सिद्ध योग

वर्ष—७
अङ्क—२

मई
१९७४

संस्थापक ✠ सम्पादक ✠ संरक्षक ✠...

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्र मोहन जी महाराज

वार्षिक मूल्य
१२ रुपया

एक अंक
का
१-५०

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन सवाँई एत्मादपुर (आगरा)

प्रकाशक

संयुक्त सम्पादक
श्री दिव्य

इस अंक में :—

पृष्ठ	लेख	लेखक
१	योगी सुखं तिष्ठति	....
२	समाधिसिद्धि एवम् ईश्वर-प्रणिधान	अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
६	संकल्प बल (गद्यकाव्य)	श्री देवकीनन्दन विभव
१०	जीवन तत्त्व साधन (बच्चे का ध्यान)	श्री गिरीशदेव वर्मा
१७	मेरे पिता एवं श्री गुरुदेवजी की कृपा	श्रीमती राजेश्वरी देवी एटा,
२६	ध्यानयोग	श्री किशोरीलाल शास्त्री
३२	जीवन क्या है (कविता)	श्री मिट्ठनलाल गुप्त
३३	ब्रह्मचर्य्य की महिमा	उपा० श्री अमरमुनिजी
३६	चित्तशुद्धि	श्री जे० एन० व्यास इन्दौर
४२	तुलसी रामायण	आचार्य भावे।
४७	ज्ञानोत्तर जीवन निर्वाह	स्वामी श्री चिदानन्द महाराज

आवश्यक सूचना

योग साधन आश्रम ऋषिकेश का

* वार्षिक-योग महोत्सव *

सभी भाई बहिनों को यह जानकर परम हर्ष होगा कि अपने योग साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक योग महोत्सव मिती ज्येष्ठ सुदी अष्टमी - नवमी - दशमी तदनुसार ता० २८,२९ और ३० मई दिन मंगल, बुध, बृहस्पति सन् ७४ ईसवी को मनाना निश्चित् हुआ है।

उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक एवं हृदयग्राही बनाने का आयोजन किया जा रहा है। उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन उपदेश भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम रहेगा। आश्रम के ब्रह्मचारी अपनी अलौकिक यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे। सभी सत्संग प्रेमियों को इस समारोह में सम्मिलित होकर लाभ उठाना चाहिए।

सभी भाई बहिनों को श्री गुरुदेवजी की ओर से इस उत्सव के आमन्त्रणपत्र भी भेजे जा रहे हैं। किन्तु डाक व्यवस्था ठीक न होने के कारण सभी पर नहीं पहुँच पाते हैं। अतः सभी भाई बहिन इस सूचना को ही अपना आमन्त्रण समझते हुए उत्सव में सम्मिलित हों।

नोट—३० मई बृहस्पतिवार गंगा दशहरा को नगर शोभा यात्रा (जुलूस) का आयोजन है जिसमें बैंड बाजे के साथ श्री बालकृष्ण संकीर्तन मण्डल शामली श्री ललितमोहन संकीर्तन मण्डल आगरा के अतिरिक्त और भी अनेक मण्डलियां भाग ले रही हैं। शस्त्र विद्या के प्रदर्शन के लिए श्री बाबूराम सेनानी एवं ओऽमप्रकाश सेनानी की अध्यक्षता में शामली जिला मुजफ्फरनगर से अखाड़ा आ रहा है, जो अपनी शस्त्र-विद्या से दर्शकों को आश्चर्य चकित कर देंगे। शोभायात्रा सभी सुन्दर झांकियों एवं साज-बाज के साथ शाम के लगभग ६ बजे योग साधन आश्रम से प्रारम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के लगभग ११ बजे आश्रम पहुंचेगी। अतः सभी सत्संग प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा में सम्मिलित होना चाहिये।

निवेदक :—

मंत्री—योग-साधन आश्रम

रेलवे रोड, ऋषिकेश (उ० प्र०)

सिद्ध योग

वर्ष ७
अङ्क २

मई
१९७४

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविनदन् योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

योगी सुखं तिष्ठति

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्यं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनं निद्राश्मशाने वने।
मित्रामित्रसमानताऽतिविमला चिन्ताऽथ शून्यालये,
ध्वस्ताशेषमदप्रमादमुदितोयोगी सुखं तिष्ठति ॥

जिनका कौपीन (लंगोटी) जीर्ण होकर टुकड़े-टुकड़े हो गया है और कथरी भी इसी तरह की हो गई है और जो स्वयं निश्चिन्त है, भोजन के लिए भिक्षान्न जिनको सुख से प्राप्त है जिसकी निद्रा श्मशान में अथवा वन में हुआ करती है, शत्रु और मित्र में जिसका समान भाव है, अत्यन्त एकान्त स्थान में जिनकी समाधि लगा करती है, और मद मोह आदि सभी दोष जिसके नष्ट हो चुके हैं, ऐसे योगी इस संसार में सुखपूर्वक रह सकते हैं।

हमारा विशेष लेख —

समाधि-सिद्धि एवम् ईश्वर प्रणिधान

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज]

योग दर्शन के विभूति पाद में समाधि प्राप्ति के अनेक उपायों का वर्णन किया गया है उनमें से समाधि प्राप्ति के लिए भगवान पतंजलि देव ने दो प्रकार के विशेष अधि-कारियों का संकेत किया है। प्रथम अधिकारी इस प्रकार के हुआ करते है जिनको जन्म से ही योग ध्यान की प्रतीति हो जाया करती है। यह योगी इस प्रकार के होते है कि इनमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कार प्रबल रहते है। इन्हें केवल निमित्त प्राप्त होते ही योगस्थिति प्रगट हो जाया करती है ऐसे योगियों को भगवान् पतंजलि देव ने विदेह और प्रकृतिलीन नामों से अभिव्यक्त किया है। सूत्र इस प्रकार है—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्।

इसका अर्थ है कि विदेह एवं प्रकृति लीन-योगियों को जन्म से ही योग की प्रतीति हुआ करती है। इस पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी कहते है—

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयकमतिवाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म शरीर के भावों का अतिक्रमण करने वाले देव विदेह कहलाते हैं। यद्यपि वह लोग वैराग्य संयुक्त हैं किन्तु फिर भी - स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार की सहायता से चित्त के द्वारा वह अपने आपको केवली भाव में स्थित समझते हैं। फिर भी तथा 'जातीयकम् स्वसंस्कार विपाकं अति वाहयन्ति इस प्रकार के अपने संस्कार विपाक का उपभोग करते हैं। इसलिए इस प्रकार के जो देव लोग हैं उनको जन्म धारण करने मात्र से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है। और जिन योगियों का चित्त प्रकृति के लीन होने के साधिकार है वे अवधि पर्यन्त अपने आपको कैवल्य स्थिति में अनुभव करते है। 'यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार-वशाच्चित्तम्' जब तक उनका चित्त अधिकार

वश होने के कारण लौट नहीं आता। तभी तक वह मोक्ष मुक्त रहता है। क्योंकि उसके प्राकृत पदार्थों का अधिकार अर्थात् चित्त व निवृत नहीं हुआ है।

प्रायः यही भाव सभी भाष्यकारों के है। ऐसे योगियों का पुनः पुनरावर्तन संसार में होता रहा करता है जब तक ये अपने आपको शुद्ध पद में विलय नहीं कर लेते। किन्तु इनकी हानि कुछ नहीं। क्योंकि ये लोग मनुष्य लोक में जन्म लेते है, जन्म लेते ही इनका पूर्व जन्मापेक्षित अभ्यास क्रमशः प्रारम्भ हो जाया करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने समस्त योग का उपदेश दिया है। और वह अर्जुन ने सब प्रकार से स्वीकार किया, किन्तु अर्जुन के मन में थोड़ी सी भ्रान्ति हो गई और उस भ्रान्ति के कारण श्रीकृष्ण जी से इस प्रकार का प्रश्न कर ही लिया—

— हे श्रीकृष्ण जो श्रद्धा से युक्त हैं योग से जिनका मन विचलित हो गया है। वे लोग योग-संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होते है। कहीं 'उभयतोभ्रष्ट' होकर ब्रह्ममार्ग में विमूढ़ हुए बीच में ही तो नष्ट नहीं हो जाते इसलिए हे कृष्ण तुम मेरे इस संशय का नाश करो। तुम से बढ़कर इस संशय का छेत्ता मुझे इस संसार में और कोई दिखलाई नहीं देता। भगवान् जगदात्मा श्रीकृष्ण ने निम्नांकित श्लोकों में अर्जुन के इस प्रश्न का यथावत् उत्तर दिया—

पार्थ नैवेह नामुत्र
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चि-
द्दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योग भ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव
कुले भवति धीमताम्॥
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्म यदीदृशम्॥

अर्थात् हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का यहाँ और परलोक में कहीं भी नाश नहीं हुता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता वह पहले पुण्यवान् लोकों को प्राप्त करके और लम्बे समय तक वहाँ रह करके पुनः मनुष्य लोक में आकर पवित्र श्रीमानो धनवानों के यहाँ उसका जन्म हो जाया करता है, या योगियों के ही घर में उसका जन्म होता है। इस प्रकार का भी जन्म प्राप्त करना इस मनुष्य लोक में अति दुर्लभ है। और फिर वहाँ जन्म लेकर के— उस साधक को पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग पुनः प्राप्त हो जाया करता है।

उस बुद्धि संयोग को पा करके वह योगी विवश होकर पुनः-पुनः योग संसिद्धि

के लिए प्रयत्न करता है। उस योगी का यह प्रयत्न भी उत्कृष्टोत्कृष्ट ही है। क्योंकि योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के दायरे से कहीं बहुत आगे निकल जाता है। इस प्रकार का प्रयत्न करने वाला योगी संशुद्ध किल्विष हो करके प्रयत्न करते हुए अनेक अनेक जन्मों के पुरुषार्थ से परम गति को पा ही जाता है। यह बात भव प्रत्यय वाले योगियों की हुई।

द्वितीय वह योगी है जिनको उपाय प्रत्यय से योग की प्रवृत्ति हुआ करती है उनके लिए भगवान पतंजलि देव ने सिद्धि प्रदान करने वाले हृदय में उत्पन्न होने वाले कुछ आवश्यक साधनों का संकेत किया है, वे इस प्रकार हैं—

श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥

अर्थात् इतरेषाम् उपाय प्रत्यय शीलानां श्रद्धादया साधन भूता भवन्ति। उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिए श्रद्धादिक ही प्रमुख साधन बताये गये हैं। इस सूत्र पर भगवान व्यास देव का भाष्य इस प्रकार है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा चेतस सम्प्रसादः साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजात वीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्त्तते, येन यथावद्वस्तु जानाति, तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्याद-संप्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥

अर्थात् अभ्यास करने वाले योगियों को उपाय प्रत्यय के द्वारा ही अपने अभ्यास की चरमस्थिति प्राप्त होती है। ऐसे अभ्यासियों के लिए सबसे पहला साधन श्रद्धा है। श्रद्धा के विषय में श्री व्यासदेवजी लिखते हैं—'श्रद्धा चेतसः संप्रसादः' अर्थात् चित्त की अवस्था का नाम ही श्रद्धा है। 'सा हि कल्याणि जननीव योगिनं पाति' श्रद्धा माता की तरह योगी की रक्षा करती है और ज्योंही योगी के हृदय में श्रद्धा पैदा हो जाती है त्योंही 'तस्य विवेकार्थिन स्त धानस्य वीर्य-मुपजायते' विवेक ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा वाले उस श्रद्धावान योगी को वीर्य पैदा हो जाता है। वीर्य ही योगी का बल है और वीर्य पैदा हो जाने के बाद स्मृति उत्तिष्ठित हो जाती है और स्मृति उत्तिष्ठित हो जाने के बाद चित्त निर्विघ्न समाहित हो जाता है।

समाहित चित्तस्य च प्रज्ञाविवेकः उपावर्तते येन यथा वस्वस्तु जनाति,

समाहित चित्त योगी को अपने आप ही प्रज्ञा विवेक प्राप्त हो जाता है। जिसके प्राप्त होने पर योगी वस्तुतः यथार्थ को जानता रहता है। यह बात योगियों के उपाय प्रत्यय की है। उपाय प्रत्यय भी हर व्यक्ति को समान रूप से फलीभूत नहीं हुआ करता।

उनमें श्री मृदुमध्याधि उपाय वाले योगियों में 'तीव्र संवेगानां मासन्नः समाधि लाभः फलं च भवति। मृदु, मध्य एवं अधि उपाय वाले योगी जब अपनी प्रगाढ़ लगन के साथ अभ्यास में लगते है उनमें से भी जो अधिमात्र उपाय वाले एवं तीव्र संवेग वाले होते हैं उनको शीघ्रातिशीघ्र समाधि फल की प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रकार भगवान पतंजलि देव ने समाधि प्राप्त उपायों का वर्णन किया है इसके बाद वहीं पर तत्काल किसी ने प्रश्न कर दिया :—

किमे तस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्ययोऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

अर्थात् क्या इससे भी जल्दी किसी प्रकार समाधि हो सकती है और उसके प्राप्त करने का क्या और कोई सरलतम् उपाय भी है।

इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने उत्तर दिया—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा

प्रणिधानात्-भक्ति विशेषाद्वावर्जित ईश्वर-स्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण—तदभिध्याना-दपि योगिन आसन्नतम समाधिलाभः फलं च

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियों का इस प्रकार है।

तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधि लाभः फलं च भवति।

ईश्वर के ईक्षण मात्र से भी मनुष्य को जल्दी-से-जल्दी समाधि-लाभ हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से किस प्रकार से समाधि लाभ हो जाता है इससे पहले मैं ईश्वर का लक्षण एवं तद् बोधक नाम प्रणव का यहां वर्णन कर देना बहुत ही आवश्यक समझता हूं। ताकि आगे प्रणिधान का स्वरूप भी भली प्रकार समझ में आ जाय।

अभी तक योग-दर्शन में भगवान पतंजलि देव ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि-आदि अन्यान्य उपायों को समाधि का उपाय बतलाया। किन्तु जब जिज्ञासु ने—पूछा क्या इससे भी सरलतम समाधि लाभ का उपाय है तब श्री पतंजलि देव ने—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा

कह करके ईश्वर प्रणिधान को ही समाधि प्राप्ति का सरलतम् एवं सुसाध्य उपाय बतलाया। अभी तक योग-दर्शन में प्रकृति पुरुष विवेक को ही प्रधानता दी गई थी। किन्तु अब अकस्मात्—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा

कह कर के ईश्वर का वर्णन किया। इसको सुन करके श्रोता जिज्ञासु आश्चर्य चकित सा हो गया और उसने साहसपूर्वक कह दिया —

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तःकोऽयमीश्वरो नामेति।

अर्थात् प्रकृति पुरुष से अलहदा ईश्वर नाम की वस्तु यह क्या है? इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने —

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपर मृष्ट-पुरुष विशेष ईश्वरः ॥

अर्थात् क्लेश कर्म विपाकादिकों से रहित जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट है उसी पुरुष-विशेष का नाम ईश्वर है।

अर्थात् अविद्यादि क्लेश और अच्छे-बुरे कर्म और उनका फल-विपाक तदनुगुणवासना ये सब-के-सब मन में रहते हुए पुरुष में कहे जाते हैं, और उसी को उनके फलों का भोक्ता मानते हैं। जैसे जय और पराजय तो योधाओं में हुआ करती है किन्तु उनके मालिकों की मानी जाया करती है। इसी प्रकार कर्मफल का भोक्ता पुरुष को माना जाता है। वस्तुतः वह सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है। जो सदा सर्वदा सभी प्रकार के भोगों से बिलकुल ही अपरामृष्ट रहा है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्

उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है अर्थात् उस ईश्वर से बढ़कर के सर्वज्ञ न अब तक कोई हुआ है न आगे होगा। ईश्वर सबसे बढ़कर सर्वज्ञ है। और वह ईश्वर—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के शुरू में होने वाले हिरण्यगर्भादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल की हद से परे है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है।

जिसकी सीमा का उल्लंघन करके अवच्छेदनार्थ काल उपस्थित नहीं होता उसी सत्ता का नाम गुरु है उसी के लिए भगवान पतंजलि देव ने 'पूर्वेषामपि गुरु कालेना नवच्छेदात्' कहकर के उस परम गुरु की परिभाषा लिख दी। इस सूत्र के अर्थ में श्री व्यासजी कहते हैं-

ईश्वर अनादि काल से सिद्ध है इसलिए काल की सीमा से परे रहकर वह पूर्व गुरु जो काल के अवच्छेदन में आ चुके हैं उन सबका गुरु है। श्री पतंजलि देवजी ने ईश्वर की परिभाषा समझाने के लिए इतने सूत्रों में उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया। अब हम उस ईश्वर को आत्म-निवेदन किस प्रकार से करें जिससे वह हमारे अभिमुख हो सके, और हम सब उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने अभिहित पदार्थ समाधि को प्राप्त कर सकें। नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध रहा करता है। और उसके लिए ईश्वर की प्राप्ति का साधनभूत उसका वर्णन करते हुए भगवान पतंजलि देव ने उसके बोधक नाम का संकेत किया—

तस्य वाचकः प्रणव ॥

उस ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है। प्रणव क्या है इसका बहुत बड़ा वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सभी की सत्ता प्रणव के अन्दर विलीन हो जाती है।

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः
प्रणवात्प्रभवो हरि।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा
प्रणव एव अवशिष्यते ॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तीनों की उत्पत्ति प्रणव से है और इनके बाद में प्रणव ही शेष बच जाते हैं। ओंकार एक इस प्रकार की सत्ता है जो काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अंड ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसलिए प्रणव का जप करते हुए उस परम तत्व का ध्यान करते हुए ही हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं। अतः भगवान पतंजलि देव ने आदेश दिया है :—

तज्जपः तदर्थ भावनम् ॥

अर्थात् अर्थ भावना सहित प्रणव का जप करना चाहिए। तभी उसका परिणाम सामने आयेगा। इसीलिए हमारे शास्त्रों का आदेश है :

स्वाध्यायद्योगमासीत
योगात्स्वाध्याय मामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्त्या
परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय से योग प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग दोनों की शक्ति से परमात्मा का प्रकाश हो जाता है। प्रणव के जप का आदेश देते हुए भगवान पतंजलि देव ने 'तज्जपः तदर्थभावनम्, कह करके प्रणव जाप के साथ-साथ प्रणवाभिधेय ईश्वर के ध्यान करने की भी विशेष रूप से आज्ञा प्रदान की है। बात जैसी की तैसी सार्थक है। ऊपर के श्लोक में स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाशत्व होना वर्णित है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं
स याति परमां गतिम् ॥ गीता ॥

अर्थात् ओम इस एक अक्षर का उच्चारण करता हुआ और मेरा ध्यान करता हुआ, जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि प्रणव का जाप करने से एवं प्रणवाभिधेय का ध्यान करने से ही मनुष्य परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह प्रमाणित हुआ कि मनुष्य को स्वाध्याय और योग ही ईश्वर की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव का जाप करता है वह अपने अभ्यास बल से अल्प समय में ही ईश्वर को अभिमुख कर लेता है। और ईश्वराभिमुख के परिणामस्वरूप समाधि को पा जाता है। तभी उसकी सब प्रकार की अन्तराय निवृत्ति एवं पाप नाश हो जाया करता है। शास्त्रीय प्रवचन है कि-

योगनिर्दहति अशेषं पाप पंजरम्।

यही ध्यानयोग का निर्मल तेज है जिससे सब प्रकार का पंजर नष्ट हो जाया करता है। ध्यान बिन्दोपनिषद् का वचन है कि—

शैले समं पापं विस्तीर्णं
बहु योजनम्।
भिद्यते ध्यान योगेन
नान्यो भेदः कदाचन ॥

यदि पापों का पहाड़ का पहाड़ भी हो तो वह ध्यानयोग के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसको नाश करने का दूसरा अन्य कोई सबल साधन नहीं है। रामायण आदि में इस प्रकार के बहुत से प्रकरण मिलते हैं, जिनमें भगवान् श्रीराम ने अपने मुख से स्पष्ट यह कह दिया है कि जीव के सन्मुख होते ही उसके करोड़ों जन्मों के पापों को तत्काल नष्ट कर दिया करते हैं। जैसे लंका काण्ड में जिस समय विभीषण श्रीराम की शरण में आया, और उसके राक्षस होने पर शरण होने में कुछ शंकायें उपस्थित की गईं वहाँ पर भगवान् श्रीराम ने विभीषण को निर्भीकता प्रदान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया –

कोटि विप्र बध लागेहि जेही !
आये शरण तजहुँ नहिं तेही ॥
सन्मुख होहि जीव मोहि जबहीं।
कोटि जन्म अघ नासहि तबहीं ॥

अर्थात् ईश्वर के सन्मुख होते ही उसके अनन्त करोड़ों पापों का नष्ट हो जाना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार सूर्योदय हो जाने के बाद अन्धकार का नाश हो जाना स्वाभाविक हुआ करता है। वैसे तो जीव ईश्वर के सन्मुख हर समय रहता ही है। किन्तु अभिमुखीकरण का सीधा और स्पष्ट अर्थ यही है कि वह ईश्वरीय तेज का स्पष्ट अनुभव करले और अनवरत करता ही चला जाये तो अवश्य ही वह जीव ईश्वरीय तेज को पाकर तन्मय हो जायेगा, एवं सिन्धु में बिन्दु की तरह से अपनी आत्म सत्ता को परमात्म सत्ता में सदा सर्वदा के लिए विलीन कर देगा। 'समाधि शब्द का अर्थ भी 'समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मनः' अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की एकावस्था का ही नाम समाधि है। जब मनुष्य परमगुरु ईश्वर को सर्व कर्मार्पण करके अपने आपको न्यौछावर कर डालता है तभी ईश्वर का यह संकल्प होता है कि 'इदमस्याभितमस्तु' यह स्वाभाविक ही है इसीलिए भगवान् पतंजलि देव ने ईश्वर-प्रणिधान को अन्य श्रद्धा-वीर्य स्मृति समाधि आदि साधनों की अपेक्षा सरलतम साधन माना है इसीलिए :—

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्

ईश्वर प्रणिधान को ही अदीनतापूर्वक सुलभ साधन बतलाया, ईश्वर प्रणिधान में साधक को कोई किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता प्रत्युत प्रेमपूर्वक उनका अनन्य-चिन्तन एवं सर्व कर्मार्पणता ही उसकी सफलता का सफल साधन बन जाती है। ईश्वर-प्रेमी किसी से बात नहीं करना चाहता, किसी से विवाद नहीं करना चाहता, उसकी वृत्ति रहती है :

सुनत न काहू की कही।
कहत न अपनी बात ॥
नारायण या रूप में।
मगन रहत दिन रात ॥

ऐसा साधक ही प्रणवाविशेष को प्राप्त करके निहाल एवं कृतार्थ हो जाया करता है।

संकल्प बल

[श्रीदेवकीनन्दन विभव]

— ०※० —

हट जाओ पर्वत मेरे मार्ग से !
माना तुम महान हो पर मेरा संकल्प तुमसे भी महान है।
तुम जितने कठोर हो, मेरा धैर्य उतना ही प्रबल है।
तुम जितने अगम्य हो, मेरा साहस उतना ही तीक्ष्ण है।
तुम जितने अटल हो, मेरा उत्साह उतना ही अचल है
नहीं पर्वत तुम अपने वक्षःस्थल से मेरे मार्ग को नहीं रोक सकते
जीवन की असंख्य घड़ियाँ मैं तुम्हें खोद डालने में नष्ट कर दूंगा
मैं स्वयं एक एक पत्थर चुन कर तुम्हें उखाड़ फेंकूंगा
मैं अपने अदम्य साहस से तुम्हारा ऊँचा मस्तक झुका दूंगा
नहीं पर्वत तुम अपने वक्ष स्थल से मेरे मार्ग को नहीं रोक सकते
यौवन के मदमाते झोंके आयेंगे और चले जायगे
मानस लहरी में सुख-स्वप्न बहेंगे और विलीन हो जायेंगे
यश और वैभव का ज्वार उठेगा और शान्त हो जायगा
पर मैं अपने कार्य में अविछिन्न जुटा रहूँगा
नहीं पर्वत शिखर ! तुम अपने वक्षःस्थल से मेरे मार्ग को नहीं रोक सकते !

विशेष लेखमाला :—

जीवन तत्त्व साधन

[श्री गिरीशदेव वर्मा, बहराइच]

७—बच्चे का ध्यान

बाल मचलन करने के बाद इस क्रिया को अवश्य करना चाहिये। इस क्रिया में अपने शरीर को बिलकुल स्थिर भाव से ढीला छोड़ दीजिये और शान्त भाव से लेटे रहिये। शरीर में कहीं तनाव न रहे। आँख मूँदकर आप कल्पना कीजिये कि आप किसी उद्यान, पार्क या पहाड़ी रमणीक स्थान पर पहुँच गये हैं। ऐसे सुन्दर स्थान को आपने कभी देखा होगा। यदि नहीं देखा है तो कल्पना में ऐसे रमणीक स्थान की रचना कीजिये और ध्यान कीजिये कि उस उद्यान में एक दो या तीन वर्ष का छोटा बालक खेल रहा है। आप भी कल्पना में उस बच्चे के साथ खेलने लगें। पाँच मिनट तक इस प्रकार बच्चे का ध्यान कीजिये। इस ध्यान से कुछ दिन में वह बच्चा स्पष्ट दीखने लगेगा और ध्यान—कर्त्ता अपने को भी एक बच्चा महसूस करने लगेगा। यह क्रिया जीवन तत्त्व साधन की प्राणभूत है। इस क्रिया से स्वाभाविक आह्लाद प्राप्त होता है। और उसी के फल स्वरूप सभी रोगों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। बाल मचलन व बच्चे का ध्यान दोनों क्रियायें एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और दोनों को यथार्थ रूप में करने से प्रसन्नता की प्राप्ति होती है।

इस क्रिया को करने के लिये आप अपने ही लड़के या पोते का ध्यान कर सकते हैं, या किसी दूसरे के स्वस्थ हँसते-खेलते हुये बच्चे का ध्यान कर सकते हैं। आपने इस प्रकार के बच्चे को बहुधा देखा होगा और उसी को स्मृति पटल पर लाने का अभ्यास कीजिये।

आपने अपने भ्रमण काल में किसी रमणीय उद्यान या पार्क का दर्शन किया होगा। बम्बई में कमला नेहरू पार्क, मैसूर के उद्यान, खजुराहो के मैदान, अथवा हिमालय के नन्दन वन का आपने दर्शन किया होगा अथवा किसी चित्र या सिनेमा में ऐसा स्थान देखा होगा। आप उसी रमणीय स्थान में अपने मन को ले जाइये और कल्पना से खेलते हुये बच्चे का ध्यान कीजिये और उसी के साथ स्वयं खेलने लगिये।

यदि आप किसी सांसारिक बच्चे का ध्यान नहीं करना चाहते और आप भगवान् कृष्ण के भक्त हैं तो भगवान् कृष्ण के जिस बाल रूप का वर्णन सूरदास ने किया है, उन पदों को मन में कहते हुये उस बाल छवि का ध्यान कीजिये। यह उच्च स्तरीय ध्यान है। इस प्रकार के सूरदास के तीन पद दिये जा रहे हैं:—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनुतन मंडित,
मुख दधि लेप किये॥
चारु कपोल, लोल लोचन,
गोरोचन तिलक किये॥
लट लटकनि मनुमत्त मधुपगन,
मादक मदहि पिये॥
कठुला कण्ठ, वज्र, केहरिनख,
राजत रुचिर हिये॥
धन्य सूर एकौ पल या सुख,
का सत कल्प जिये॥

अर्थ—श्रीकृष्ण अब घुटनों के बल चलने योग्य हो चुके हैं अतः वे आंगन में घुटनों के बल सरक-सरक कर चलने लगे हैं। चलते समय भी हाथ में मक्खन लिये हुये हैं। इस प्रकार चलने से उनका शरीर धूलि धूसरित हो गया है। मुँह में दही भी लिपटा हुआ है। उनके कपोल बड़े ही सुन्दर हैं, आँखें चंचल हैं और ललाट पर गोरोचन का तिलक लगा हुआ है। उनकी लटें उनके चन्द्र मुख पर लटकी हुई हैं और वे ऐसी शोभित हो रही हैं मानो भौरों का समूह मादक मधु पीकर मत्त हो रहा हो। कृष्ण के गले में कण्ठा तथा उनके वक्षः स्थल पर हीरा जटित बघनखा सुशोभित है। सूरदास—कहते हैं कि क्षणभर के लिये भी इस रूप का दर्शन मिल जाय तो जीवन को धन्य समझिये, अन्यथा सौ कल्प भी जीना बेकार है।

कहाँ लौं बरनौ सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आंगन में,
नैन निरखि छबि छाई॥
कुलहि लसत सिर स्याम सुभग,
अति बहु बिधि सुरंग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर
राजत मघवा धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु चिकुर
हरत मनमोहन मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल
अलि अवली फिर आई॥
नील सेत पर पीत लाल
मीन लटकन भाल लुनाई।
सुनि गुरु असुर, देव गुरु
मिलि मनु भौम सहित समुदाई॥
दूध दंत दुति कहि न जाति
अति अद्भुत एक उपमाई।
किलकत हंसत दुरति प्रगटति,
मनु घन में बिज्जु छपाई॥
खंडित बचन देत पूरन सुख

अलत जलप जलपाई।
घुटुरुनि चलत रेनु तनु मंडित,
सूरदास बलि जाई॥

अर्थ – श्रीकृष्ण की सुन्दरता का वर्णन कहाँ तक किया जावे। वे नन्दजी के स्वर्णमय आँगन में खेल रहे हैं। उनकी छवि को देखकर आंखें तृप्ति का अनुभव कर रही हैं। अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे कपड़ों से बनी टोपी उनके सिर पर इस प्रकार शोभा पा रही है मानो नये बादलों में इन्द्रधनुष सुशोभित हो। मोहन के मुख के चारों ओर बिखरी हुई अत्यन्त सुन्दर और कोमल केशराशि ऐसी मनोहर लग रही है मानो विकसित कमल पर भौरों का समूह घिर आया हो। उनके ललाट पर बिखरे बालों में जो लटकन लगा हुआ है उसमें नीलम, हीरा, पुखराज और पद्मराग मणियां गुथी हैं। इनके नीले, सफेद, पीले और लाल रंग इस प्रकार शोभा दे रहे हैं मानो शनि, शुक्र और गुरु एक साथ आकर मंगल से मिल गये हों। उनके दूध के दांतों की ज्योति का तो कहना ही क्या। उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। उनकी एक ही उपमा समझ में आती है। किलकते हुये जब वे हँसते हैं तो वह द्युति इस प्रकार छिपती व प्रकट होती है जैसे बादलों में बिजली छिपती और प्रकट होती है। थोड़ा बहुत बोलते हुये उनके मुख से जो टूटे फूटे वचन निकलते हैं वे अतिशय आनन्द देने वाले हैं। आँगन में घुटनों के बल चलकर कृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं। उनका शरीर धूल धूसरित हो गया है, इस काया पर सूरदास बलिहारी हो रहे हैं।

किलकात कान्ह घुटुरुवन आवत।
मनिमय कनक नन्द के आंगन,
मुख प्रतिबिम्ब पकरिवें धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को,
पकरन को चित चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दंतियां
पुनि पुनि तिहि अवगाहत॥
कनक भूमि पर कर पग छाया,
यह उपमा एक राजति।
प्रति कर प्रति पद प्रति मनि,
बसुधा कमल बैठकी साजति॥
बाल दसा सुख निरखि जसोदा,
पुनि पुनि नन्द बुलावति
अंचरा तर लै ढांकि सूर
प्रभु जननी दूध पियावति॥

अर्थ–बालकृष्ण नन्दके मणि जटित स्वर्णमय आंगन में घुटनों के बल दौड़ कर खेल रहे हैं। वे किलकारी मारते हुये दौड़ रहे हैं और मणियों की आभा से युक्त कनक के आँगन में अपने मुख की पड़ती हुई परछाई को पकड़ने के लिये दौड़ते फिरते हैं। और किलकारी मारकर हंस देते हैं। जब हँसते हैं तो उनके दूध के छोटे-छोटे दो दांत चमक उठते हैं। वे उन्हें बार-बार देखते हैं। स्वर्णमय आँगन

की भूमि पर उनकी हथेलियों और पावों की जो छाया पड़ती है उसको लेकर एक उपमा ठीक बैठ रही है। ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण की हथेलियों और पांवों के तलवों की प्रत्येक मणि में पड़ने वाली परछाईं के ब्याज से पृथ्वी उनकी हथेलियों और तलवों के नीचे कमल का आसन बिछा रही है। बाललीला का यह सुख देखकर यशोदा अत्यन्त प्रसन्न हो रही है और नन्दजी को बार-बार बुलाती है। इसके साथ ही वे आंचल खींचकर उससे श्रीकृष्ण को ढककर दूध पिला रही है।

यदि आप राम उपासक है तो भगवान राम के बाल रूप का ध्यान कीजिये। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में ऐसे बाल रूप का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। आप उन पदों को याद कर लें और ध्यान करते समय मन में पदों को कहते जायें और उन पदों में वर्णित छवि के अनुसार अपने को ध्यान-मग्न करलें। ऐसे बाल रूप छवि का वर्णन निम्न पदों में दिया हुआ है :
कवितावली :

कबहूँ ससि मांगत आरि करें,
कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरें।
कबहूँ करताल बजाइकै नाचत
मातु सबै मन मोद भरें॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठिकै
पुनि लेत सोई जेहि लागि अरें।
अवधेश के बालक चारि सदा,
तुलसी मन मन्दिर में बिहरें॥

अर्थ-कभी चन्द्रमा को मांगने का हठ करते हैं, कभी अपनी परछांही देखकर डरते है, कभी हाथ से ताली बजा-बजा कर नाचते है जिससे सब माताओं के हृदय आनन्द से भर जाते हैं, कभी रूठकर हठपूर्वक कुछ मांगते है और जिस वस्तु के लिये अड़ते है उसे लेकर ही मानते है। अयोध्यापति महाराज दशरथ के ये चारों बालक तुलसीदास के मन मन्दिर में सदैव विहार करें।

बर दंत की पंगति कुंद कली,
अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच जगैं,
छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुंघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर
कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करै तुलसी बलि,
जाउं लला इन बोलन की॥

अर्थ–कुन्दकली के समान उज्ज्वलवर्ण दन्तावली, अधर पुटों का खोलना और अमूल्य मुक्ता मालाओं की छबि ऐसी जान पड़ती है मानो श्याम मेघ के भीतर बिजली चमकती हो। मुख पर घुंघराली अलकें लटक रही हैं। तुलसीदास जी कहते हैं–लल्ला! मैं कुंडलों की झलक से सुशोभित तुम्हारे कपोलों और इन अमोल बोलों पर अपने प्राण न्योछावर करता हूँ।

पद कंजनि मंजु बनीं पनहीं,
धनुहीं सर पंकज-पानि लिये।
लरिका संग खेलत डोलत हैं
सरजूतट चौहट हाट हियें

तुलसी अस बालक सों नहिं नेहु
कहा जप जोग समाधि किये।
नर वे खर सूकर स्वान समान
कहौं जग में फल कौन जियें॥

अर्थ—उनके चरणकमलों में मनोहर जूतियाँ सुशोभित हैं। वे कर-कमलों में छोटा-सा धनुष-बाण लिये हुये हैं। बालकों के साथ सरजू के किनारे चौराहे और बाजारों में खेलते फिरते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं—यदि ऐसे बालकों से प्रेम न हुआ तो बताइये जप, योग या समाधि करने से क्या लाभ है। वे लोग तो गधों शूकरों और कुत्तों के समान हैं—बताइये संसार में उनके जीने का क्या फल है।

गीतावली—

छँगन मंगन अंगना खेलत
चारु चारयो भाई।
सानुज भरत लाल लषन
राम लोने लोने
लरिका लखि मुदित
मातु समुदाई ॥ १ ॥
बाल बसन भूषन धरे,
नख सिख छवि छाई।
नील पीत मनसिज
सरसिज मंजुल
मालनि मानो हैं
देहनितें दुति पाई ॥ २ ॥
ठमुक ठुमुक पग धरनि,
नटनि, लरखरनि सुहाई।
भजनि, मिलनि, रूठनि,
तूठनि, किलकनि
अवलोकनि, बोलनि
बरनि न जाई ॥ ३ ॥

जननि सकल चहुँ ओर
आल बाल मुनि अंगनाई।
दशरथ सुकृत विबुध
बिरवा दिलसत
बिलोकि जनु बिधि
बर बारि बनाई ॥ ४ ॥

हरि विरंचि हर हेरि
राम प्रेम परबसताई।
सुख समाज रघुराज के चरनत
विशुद्ध मन सुरनि
सुमन झरि लाई ॥ ५ ॥

सुमिरत श्री रघुबरनि
की लीला लरिकाई।
तुलसीदास अनुराग
अवध आनंद
अनुभवत तब को
सो अजहुँ अघाई ॥ ६ ॥

अर्थः—अति सुन्दर चारों भाई मगन होकर आँगन में खेल रहे हैं। भाई शत्रुघ्न के सहित भरतलाल, लक्ष्मण तथा

राम इन सुन्दर बालकों देख-देखकर सब मातायें अति आनन्दित होती हैं ॥ १ ॥ चारों बालक बालोचित वस्त्र और आभूषण धारण किये हुये हैं। नख से सिख तक शोभा छाई हुई है। कामदेव की, नील और पीत कमल की मनोहर मालाओं ने मानो इनके शरीरों से ही शोभा पाई है ॥ २ ॥ इनके ठुमुक-ठुमुक कर चरण रखने, नाचने लड़खड़ाने, दौड़ने, मिलने, रूठने, प्रसन्न होने, किलकने, देखने तथा बोलने की सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३ ॥ राजभवन के मणिमय आँगन रूप आलवाल में दशरथजी के पुण्य कल्पतरु को बढ़ता देख मानो विधाता ने समस्त को सुन्दर बाड़ बनाकर उसे चारों ओर से घेर दिया है ॥ ४ ॥ ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भगवान राम की प्रेम बरबसता देख विशुद्ध मन से रघुराज जी की सुख-राशि का वर्णन करते हैं। देवताओं ने फूलों की झड़ी लगा रखी है ॥ ५ ॥ उन रघुकुल श्रेष्ठ बालकों की बाल-लीलाओं का स्मरण कर तुलसीदासजी उस समय की ही भाँति अब भी अयोध्या में अघाकर उस अनुराग के आनन्द का अनुभव कर रहे हैं ॥ ६ ॥

आँगन खेलत आनन्द कन्द।
रघुकुल कुमुद सुखद चारुचन्द ॥
सानुज भरत लखन संग सोहैं।
सिसु भूषन भूषित मन मोहैं ॥
तन दुति मोर चन्द जिमि झलकैं।
मनहु उमगि अंग अंग छवि छलकैं ॥
कटि किंकिनि पग पैंजनि बाजैं।
पंकज पानि पहुँचिआं राजैं ॥
कठुला कंठ बघनहा नीके।
नयन सरोज मयन सरसी के ॥
लटकन लसत ललाट लटूरी।
दमकति द्वै-द्वै दँतुरियाँ रूरीं ॥
मुनि मन हरत मंजु मसि बुंदा।
ललित बदन बलि बाल मुकुन्दा ॥
कुलही चित्र विचित्र झँगूलीं।
निरखत मातु मुदित मन फूलीं ॥
गहि मनि खंभ डिम्भ डगि डोलत।
कलबल बचन तोतरे बोलत ॥
किलकत, झुकि झाँकत प्रतिबिम्बनि।
देत परम सुख पितु अरु अंबनि ॥
सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है।
गावत प्रेम पुलकि तुलसी है ॥

अर्थ :—रघुकुल रूप कुमुद को आनन्दित करने वाले मनोहर मयंक आनन्दकन्द भगवान राम आँगन में खेल रहे हैं। शत्रुघ्न सहित भरत और लक्ष्मणजी संग में सुशोभित हैं, चारो भाई बालोचित आभूषणों से भूषित हैं और मन को मोहे लेते हैं। शरीर की कान्ति ऐसी है मानो मयूर पिच्छ की चन्द्रिकायें झलक रही हों तथा अंग अंग से छवि मानो उमंग उमंग कर छलकी पड़ती हो। कमर में करधनी की और चरणों में नूपुर की ध्वनि हो रही है। करकमल में पहुँचियाँ शोभा दे रही हैं। कण्ठ में कठुला तथा व्याघ्रनख सुन्दर मालूम होते हैं तथा नयन कमल मानो काम सरोवर से उत्पन्न हुये हैं।

माथे पर छोटी-छोटी अलकें तथा लटकन शोभायमान है और मुख में दो-दो छोटे-छोटे सुन्दर दांत चमक रहे हैं। माथे पर लगी हुई काजल की बिंदी मुनियों का मन चुराये लेती है। इस बालमुकुन्द के मनोहर मुखार-बिन्द पर बलिहारी है। रंग बिरंगी टोपी और अनूठी झंगुली देखकर माता प्रसन्न मन से फूली फिर रही है। बालक राम मणिमय खम्भ पकड़कर पैरों से डगमगाते हुये चलते हैं और स्पष्ट तथा मनोहर तोतले वचन बोलते हैं। वे किलकते हैं और झुक झुककर अपने प्रतिबिम्बों की ओर ताकते हैं। इस प्रकार माता-पिता को खूब ही आनन्द प्रदान करते हैं। उस सुन्दरता के स्मरण मात्र से हृदय में उल्लास होता है और तुलसीदास भी प्रेम से पुलकित हो उसका गान करता है।

छोटी छोटी गुड़ियाँ
अँगुरियाँ छबीली छोटी
नख जोति मोती मानो
कमल दलनि पर।
ललित आँगन खेलें,
ठुमुक ठुमुक चलें
झुँझुनु झुँझुनु पायँ
पैंजनी मृदु मुखर ॥ १ ॥
किंकिनी कलित कटि
हाटक जटित मनि,
मंजु कर कंजनि
पहुँचियाँ रुचिर तर।
पियरी झीनी झँगुली
साँवरे सरीर खुली,
बालक दामिनि ओढ़ी
मानो बारे बारिधर
उर बघनहा, कंठ
कठुला, झँडूले केश
मेढ़ी लटकन मसि बिन्दु
मुनि मन हर।
अंजन – रंजित नैन,
चित्त चोरैं चितवनि,
मुख शोभा पर
वारौं अमित असमसर ॥ ३ ॥

चुटकी बजावती नचावती
कौसल्या माता,
बाल केलि गावति
मल्हावती सुप्रेम भर।
किलकि किलकि हँसैं
द्वै द्वै दँतुरियाँ लसैं
तुलसी के मन बसैं
तोतरे वचन पर ॥ ४ ॥

अर्थ – छोटे-छोटे चरण हैं, उनमें नन्ही-नन्हीं छबीली अँगुलियां हैं। जिनकी नख द्युति ऐसी जान पड़ती है मानो कमल दल पर मोती सुशोभित हों। मनोहर आंगन में खेलते समय जब ठुमुक-ठुमुक चलते हैं तो पैरों से पैंजनियों का सुमधुर झुनझुन झुनझुन शब्द होता है ॥

कमर में सुवर्ण की मणि जटित मनोहर किंकिणी है तथा हाथों में अति सुन्दर पहुँचियां है। सांवरे शरीर पर अति झीनी पीतवर्ण झंगुलियां ऐसी शोभित होती है मानो किसी छोटे बादल ने बाल विद्युत ओढ़ रखी हो ॥

छाती पर व्याघ्रनख है, कंठ में कठुला पड़ा हुआ है तथा माथे पर मुनियों के मन को चुराने वाले गभुआरे केश, चोटी, लटकन और काजल की बिंदी विराजमान है। भगवान के नयन अंजन रंजित है, उनकी चितवन

[शेष ४६ पेज पर]

मेरे पिता एवं श्री गुरुदेवजी की कृपा

श्रीमती राजेश्वरी देवी मु० पो० महुआखेड़ा (एटा)

प्रभु जी की अनुपम कृपा—

जिस प्रकार से करुणासागर पतित-पावन श्री प्रभुजी अपने बच्चों पर सदैव कृपा-वर्षा किया करते हैं, यह इस लेख से स्पष्ट हो जायगा। इसमें मात्र मैं उन घटनाओं का ही वर्णन करूँगी जिनसे मेरे पिता जी एवं परिवार वालों का सम्बन्ध प्रकट रूप से है।

मेरी व्यथा कथा—

मेरी ससुराल एटा जिला के महुआखेड़ा ग्राम में है तथा मेरा पीहर इटावा जिला के मर्गाढ़ा ग्राम में है। पिताजी पहले बहुत बड़े जमीन्दार थे। जमीन्दारी समाप्त होने पर अतुल व्यापार होने लगा था। परन्तु कुछ समय बाद प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। देखते-देखते दो वर्षों के अन्दर ही व्यापार प्रायः नष्ट हो गया। उनको मेला द्वारा लगान जो प्राप्त हुआ करता था वह भी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अधिकार में आने से समाप्त हो गया। विधाता वाम होने पर सब बातें उल्टी हो जाया करती हैं। इसी बीच सहसा पिता जी के यहाँ डकैती पड़ गयी। डाकुओं ने उन्हें पूर्ण रूपेण निर्धन बना दिया। अब पिता-जी बहुत ही दीन दुखी हो गये। शोक ने उन्हें रुग्ण बना दिया। रोग का भयंकर आक्रमण उनके शरीर पर हुआ। विपत्ति में पड़े निर्धन की भला कौन सहायता करता है। पिताजी के स्वास्थ्य को देखकर घर वालों को रोने के अलावा और कोई कुछ न सूझता था।

अच्छे-अच्छे डाक्टरों ने मनाकर दिया कि अब यह किसी प्रकार ठीक नहीं होंगे। पिता-जी को श्वास रोग था। उनका दम इतने जोर से चलता कि वह काफी दूर से सुना जा सकता था। इस को देखकर हम सभी को बड़ा आन्तरिक क्लेश होता था। मुर्गाढ़ा के पास ही एक ग्राम ठाकुरगाँव है। वहाँ पर एक महात्मा रहते थे। लोगों में ऐसा विश्वास था कि उन्हें कुछ सिद्धि प्राप्त है। भविष्य की बातें बतला दिया करते हैं, और रोग-निवृत्ति हेतु अनुष्ठान भी करवाया करते हैं जिसमें बहुत धन की आवश्यकता पड़ती थी। ठाकुर गाँव वाले महात्मा ने पिता जी के ग्रस्त शरीर को देखकर यही कहा कि अब इनके लिये अनुष्ठान कराना भी व्यर्थ होगा क्योंकि शरीर पर रोग पूर्ण रूपेण छा चुका है। दूसरी बात यह भी थी कि निर्धन पिता जी डकैती पड़

जाने के बाद इस अवस्था में नहीं थे कि १०-१२ हजार रुपये के लगभग होने वाले अनुष्ठान के व्यय का भार उठा सकें। अतः वे हर प्रकार से निराश एवं लाचार हुए रोग की यंत्रणा से जीर्ण शीर्ण हो गये थे।

इधर मेरे पतिदेव और मुझे अभी पिताजी के इतने अधिक रुग्ण होने की बात नहीं मालूम थी। हम दो बहन मात्र ही अपने पिता की संताने हैं। भाई कोई नहीं है। मेरी बड़ी बहन की ससुराल मुरारहा के पास ही दो मील दूर पूराकलां गाँव मे है। उन दिनों हम दोनों बहनें अपनी ससुराल में ही थीं। एक दिन यकायक पिताजी की बीमारी का समाचार मुझे पत्र द्वारा प्राप्त हुआ। मैं बहुत ही बेचैन हो गयी। मेरे पतिदेव कुछ दिन पूर्व से ही बाहर गये हुये थे। पत्र में पिताजी की हालत बहुत खराब बताई गयी थी। मैं पत्र को बार बार रोती हुई पढ़ती रहती थी और किंकर्तव्यविमूढ़ थी।

पतिदेव की गुरु निष्ठा —

यहाँ एक बात और बता देना समीचीन होगा कि मेरे पतिदेव एकाकी ही योग-दीक्षा परमकरुणार्णव योगयोगेश्वर श्री गुरुदेवजी से पहले ही प्राप्त कर चुके थे। अपने श्री गुरुदेवजी की अलौकिक शक्तियों का वर्णन वे हमसे किया ही करते थे। वे अभूतपूर्व गुरु-निष्ठा से पूर्ण थे।

गुरुदेव का दर्शन—

अतः ऐसे विपत्ति के समय, जब मैं बड़ी देर रोती-रोती पता नहीं कब सो गयी तब सोते हुए मुझे एक दिव्य स्वप्न हुआ। मैंने देखा कि श्री गुरुदेव भगवान मेरे घर आये हुए हैं। प्रभु, चारपायी पर बैठ गये। चारपाई के एक ओर मेरे पिताजी अन्तिम श्वासें लेते हुये दिखाई पड़े। श्री गुरुदेव भगवान मुझसे कहने लगे क्यों राजेश्वरी यह तेरा पिता पड़ा है। मैंने कहा कि हे प्रभो! यह मेरे पिता ही हैं, अब इनका क्या होगा? इस पर भगवन् बोले इसे मेरे पास ला। इसे श्री प्रभुजी ठीक करेंगे।

इस स्वप्न से मुझे बहुत बड़ी शान्ति मिली। भरोसा हो गया कि सर्व समर्थ श्री गुरुदेवजी की कृपा मेरे साथ है। अब अनिष्ट नहीं होगा।

आश्रम की ओर—

पतिदेव के आने पर मैंने पिताजी की बीमारी का हाल बताते हुये उन्हें उस दिन हुये स्वयं के स्वप्न का वर्णन भी किया। पाठकों को विदित हो कि इससे पूर्व मैंने श्री गुरुदेवजी का दर्शन नहीं किया था। स्वप्न में श्री गुरुदेवजी की आकृति एवं वस्त्रा-वरण ठीक वही था जो प्रत्यक्ष श्री गुरुदेवजी का इस समय है। स्वप्न की घटना को सुनकर पतिदेव रोमांचित हो उठे और कहने लगे मेरे श्रीगुरुदेव भगवान पूर्ण समर्थ हैं। उनकी कृपा से पिताजी अवश्य ही स्वस्थ हो जावेंगे। उनके समान शक्ति वाला इस संसार में और कोई नहीं है। मैं आज ही उन कृपा-सागर जी के चरण-कमलों में विनयपूर्वक

प्रार्थना-पत्र प्रेषित कर रहा हूँ। उनकी आज्ञा मिलते ही पिताजी को आश्रम ले चलूँगा। तुम भी मुगरिहा आज ही पत्र डाल दो जिससे वे यहाँ आ जावें। मैंने पिताजी को पत्र लिखा, श्री गुरुदेव भगवानजी का संकेत करते हुये यह लिख दिया था कि पिताजी आप यहाँ आ जावें, फिर हम लोग श्री गुरुदेवजी के पास चले चलेंगे।

अब जो आनन्दकन्द महाप्रभु श्री गुरुदेव भगवान की कृपा हुई वह इस प्रकार है :

पतिदेव का पत्र श्रीचरणों में प्रेषित करते ही उधर पिताजी पर असीम करुणा-कृपा श्री गुरुदेवजी की होने लगी। जो पिताजी बोल नहीं सकते थे, चलने की शक्ति जिनमें थी ही नहीं उनको जब मेरा पत्र प्राप्त हुआ तो वे अदृश्य रूप से गुरु कृपा पाकर आन्तरिक शक्ति से पूर्ण हो उठे। इतना स्वास्थ खराब होने पर पिताजी उन करुणासागरजी की अलौकिक कृपा शक्ति के प्रभाव से प्रेरित होकर अकेले ही मुगरिहा से महुआडीह आगये उनका हाल देखकर हम सबों को बड़ा ही दुःख हुआ। उनका शरीर बहुत जीर्ण हो गया था। शीघ्र ही गुरुदेव भगवान का आज्ञापत्र आ गया कि 'लल्ला उन्हें अवश्य ले आओ।' गुरुपूर्णिमा का पावन पर्व भी सन्निकट ही था। पिताजी तथा हम सभी को श्री गुरुदेव भगवान के आज्ञापत्र को पढ़कर अपार उल्लास हुआ था जिसके स्मरणमात्र से आज भी अतीत स्वयं प्रकट सा होने लगा है। उस समय के हर्ष को तत्काल एक बात की चिन्ता ने ढक लिया। पिताजी कुछ भी खा नहीं पाते थे। वे अत्यन्त क्षीणकाय हो गये थे। किसी दिन एकाध रोटी की उपरी पतली परत खा पाते कभी वह भी नहीं। न उनको भूख ही थी और न दमे के कारण कुछ खा ही पाते थे। यह मन में मैं सोचती थी कि गुरु पूजन के कई दिन हैं, तब तक पिताजी कैसे जीवित रहेंगे? परन्तु श्री प्रभुजी की बड़ी लम्बी भुजायें हैं। दीनानाथ बड़े ही दयालु हैं। उन्हें तो पिताजी को अपनाना ही था। पिताजी के संस्कार कड़े थे। उनके शरीर की दशा से तो ऐसा प्रतीत होता था कि आज का दिन-रात ही कटना कठिन है। न जाने कब प्राण पखेरू उड़ जावें, यह आशंका हर क्षण ही बनी रहती थी। परन्तु जब मेरे पतिदेव श्री गुरुदेव भगवान और आनन्दकन्द परम योगेश्वर श्री महाप्रभुजी की अलौकिक कथाओं का वर्णन करते थे। तब मेरे पिताजी बड़ी ही श्रद्धा से सुनते रहते थे। कथाओं को सुनते समय उनको व्याधि-कष्ट बहुत कम अनुभव होता था।

वह पावन दिन—

श्री गुरुपूजन का वह पावन दिन आगया। हम सभी श्री गुरुदेव भगवान के चरण-कमलों के दर्शनार्थ श्री सिद्ध गुफा सवाई पहुँच गये। हमारे श्री गुरुदेव भगवान बाहर श्री महाप्रभु जी के सिंहासन के नीचे बैठे हुये थे। प्रभु! सादा कुर्ता—धोती पहने हुये स्वप्न के आधार

पर तुरन्त ही उन्हें पहचान लिया । श्री गुरुदेव जी उसी सहज रंग रूप में थे जैसे कि उन्होंने स्वप्न में मुझे दर्शन दिये थे । पिताजी ज्योंही श्री प्रभुजी के सम्मुख गये उस क्षण श्री गुरुदेव जी कुछ उदास से हो गये । परन्तु तत्काल ही वे सहज भाव से मुस्कराये पिताजी ने श्री गुरुदेवजी को प्रणाम किया । पश्चात् उनके कृपा हस्त का आशीर्वाद पाकर हम सभी ने आश्रम में निवास प्राप्त किया ।

पिताजी ने एक दिन कहा कि पहले श्री गुरुदेवजी का दर्शन करके मैंने सोचा कि लल्लू (मेरे पतिदेव) कहां ले आया । यह तो महात्माओं जैसा वस्त्र भी नहीं पहने हुये हैं । परन्तु ज्यों ही मैंने श्री प्रभु के चरणों में शीश झुकाया । आशीर्वादात्मक उनके कर-कमलों का स्पर्श ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेरे शरीर से कोई चीज निकलकर भाग गयी । मेरा स्वास्थ्य अब पूर्ण ठीक है । पिताजी के चेहरे पर बड़ी प्रसन्नता थी ।

उनके द्वारा सुनाया गया यह वृतान्त पुनः हम सभी के आनन्द और आश्चर्य के कारण बना । उस दिन रात में पिताजी ने आश्रम के भण्डार में जाकर हम सबके साथ भोजन किया । हम सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ जब वे तीन चार मोटी रोटियां खा गये । इस प्रकार श्री गुरुदेवजी ने अदृश्य रूप से कृपा कर हमारे पिताजी को जीवन दान किया ।

जाकी कृपा पंगु गिरि लांघहिं—

प्रातः गुरुपूजन पर्व पर हमने तथा पिता जी ने श्री गुरुदेवजी से योग दीक्षा प्राप्त किया । दो दिन हम लोग और आश्रम पर ही रहे । घर आते समय श्री गुरुदेवजी ने मेरे पिता को शीतली प्राणायाम का उपदेश किया पिताजी ने अकेले ही डूण्डला से घर को प्रस्थान किया । गाड़ी द्वारा वे कन्नौजी स्टेशन पहुँचे । वहां से मुरारिहा पांच मील की दूरी पर है । स्टेशन छोटा होने के कारण किराये पर चलने वाली सवारी की गाड़ियां प्रायः नहीं मिलती हैं । घर से सूचना न होने कारण कोई सवारी वहां भी नहीं पहुंच सकी थी । परन्तु उन करुणा सागर श्री प्रभुजी की कृपा तो साथ थी ही । उनकी दी हुयी शक्ति से वे दो घण्टे के पूर्व ही अपने बिस्तर को स्वयं ढोते हुये घर पहुँच गये । उन्हें रास्ते में कोई थकावट या परेशानी नहीं उठानी पड़ी थ । ग्राम एवं घर के लोगों को इस बात से आश्चर्य बड़ा हुआ । पिताजी स्वयं मुझसे बतलाये थे कि—वे महीनों से इस प्रकार रुग्ण थे कि उनके मुख से आवाज भी निकलना कठिन रहता था । उन दिनों रुग्णावस्था में एक बार उनको रात में प्यास लगी । मुख से आवाज निकल नहीं पाती थी तथा पास कोई घर पर था भी नहीं । पास के घर पर जाकर बाहर सोने वाले एक व्यक्ति को जगाकर इशारे से पानी मांगकर पीपाये थे । मेरे घर महुवा खेड़े में भी उनका ऐसा ही हाल था वे अन्दर घर में आते समय कई बार बीच-बीच में बैठकर आते थे । अलौकिक शक्तियों के भण्डार श्री गुरुदेव भगवान की कैसी अलौकिक कृपा

हुई कि पिताजी बिना चिकित्सा के स्वस्थ हो गये थे। जब डाक्टरों वैद्यों ने उनके निरोग होने की बात सुनी तो वे उनसे पूछने लगे कि कहाँ इलाज कराया है? कैसे इतने अल्पकाल में ठीक हो गये। पिताजी उनको यही उत्तर देते कि—श्री गुरुदेव भगवान की कृपा दृष्टि से ही हम ठीक हुये हैं। न तो मैंने कोई दवा खायी है और न किसी प्रकार की चिकित्सा का ही सहारा लिया है। गुरुदेव की कृपादृष्टि से हम अब निरोग हैं। श्री गुरुदेव भगवान जी ने हमें जीवन दान दिया है।

योग-साधना की ओर

पिताजी इसके पश्चात् पूर्णरूपेण निरोग गये थे। वे दीक्षा प्राप्त करके योग-साधना में लग चुके थे। परम करुणार्णव श्रीगुरुदेवजी की कृपा थी ही। परन्तु उनके मन में एक बात का क्लेश सदैव बना रहा करता, कि मैं श्री गुरुदेवजी की कुछ भी सेवा न कर सका। जब मैं धनी था उस समय मेरे प्रभु नहीं मिले अब जब मैं निर्धन हूँ, अशक्त हूँ, तब मुझे उनके अभय चरणों की शरण प्राप्त हुई है। न तो मैं इस टूटी-फूटी झोंपड़ी को ही श्री गुरुदेवभगवान के चरण-कमलों से पवित्र कर सका और न खूब धूम-धाम से दीक्षा ही ले सका। उनका यह अरमान नहीं पूरा हुआ था। प्रायः वे मुझसे सखेद यही चर्चा किया करते थे। जब उनके जीवन का पूरा एक साल रह गया था उस समय उनको बहुत भारी चिन्ता हुई। वे दुखी होकर मुझसे कहने लगे कि मैं श्री गुरुदेव भगवान को कुछ भी अर्पण नहीं कर सका। मैं इसी बात से बहुत चिन्तित हूँ। मैं उनको दुखी देखकर बोली कि आप दुख क्यों करते हैं। आपके पास जमीन है आप इसी में से दे दें। इस पर उन्होंने कहा कि—पूरे परिवार का अभी एक ही खाता है। मैं उनके नाम अभी अकेला कर नहीं सकूँगा। इस समय हृदय से संकल्प किये देता हूँ। तुम लोग मौका आने पर बिना किसी झंझट के यह जमीन श्रीगुरुदेव भगवान के नाम करवा देना। क्वार के प्रारम्भ में पड़ने वाली पूर्णिमा को जमीन का संकल्प करने के बाद वे हम लोगों से बोले—देखो ठीक एक वर्ष बाद कनागतों की पूर्णिमा है। उस दिन बन्दा नहीं रहेगा।

उनकी इस बात का हम लोगों ने तब विश्वास नहीं किया। क्योंकि वे उस समय पूर्ण स्वस्थ थे। इस घटना के पश्चात् ही मैं ससुराल आ गयी थी। अभी उनके कर्म का भुगतान तो बाकी ही था। करुणासागर आनन्दकन्द श्रीगुरुदेव भगवान अपने बच्चों के कर्म का भुगतान इसी जन्म में करा देते हैं। अतः कुछ समय पश्चात् वे पुनः बीमार पड़ गये। दिन पर दिन स्वास्थ्य गिरता गया। उस समय मैं अपनी ससुराल में ही थी। इस बार पिताजी का शरीर पूरा-पूरा सूजन

से प्रभावित था। बड़ी कड़ी पीड़ा थी। परन्तु इतनी तकलीफ में भी श्री सतगुरु देव भगवान के प्रति श्रद्धा में कोई कमी नहीं थी। घर पर माताजी एवं पिताजी ही केवल थे। पिताजी ने माँ से कहा कि श्री रामनावमी का पर्व निकट है तुम सभी तैयारी आश्रम चलने के लिये कर लो। माँ ने उनसे कहा था कि आपकी दशा ऐसी है कैसे आप चल सकेंगे। उन्होंने कहा कि 'मुझे अन्तिम उत्सव देख लेने दो क्योंकि परम प्रभु श्री महाप्रभुजी का अगला जन्मोत्सव देखने के लिये मैं नहीं रहूंगा। वे आश्रम गये। वहाँ परम करुणार्णव श्री गुरुदेव भगवान के शक्ति पातित तालाब में स्नान किया। आश्चर्यजनक ढंग से वे आश्रम में बिल्कुल ठीक रहे। आश्रम उत्सव पर मैं भी गयी थी। वहाँ से लौट कर पिता जी के साथ ही मैं भी मुगरिहा चली गई। बाद में मेरे पतिदेव भी मुगरिहा आये। वहाँ उनके इलाज का तो कोई साधन उपलब्ध था नहीं। घर पहुंच कर उनका स्वास्थ्य पुनः बिगड़ गया। शरीर में भयंकर सूजन एवं दर्द रहा करता था। कभी-कभी दर्द इतना बढ़ जाता कि वह उनकी सहन शक्ति से बाहर हो जाता था। माँ सारी रात जागती उनकी सेवा में लगी रहती थी। श्री प्रभुजी के गुणानुवाद सुनने पर उनको कष्ट से मोचन होता था। पति देव मेरे पिताजी के इलाज के लिये उन्हें एटा ले गये। हम सभी साथ थे। परन्तु इलाज से कोई लाभ नहीं हुआ अपितु स्वास्थ और गिरता गया। एक दिन ऐसा हुआ कि पतिदेव को शहर में आश्रम के एक गुरु भाई श्री सूरजजी मिले। इन्हों ने बताया कि श्री गुरुदेव जी एटा आये हैं। वहाँ उनका निवास जैन धर्मशाला में है। पतिदेव तुरन्त श्री चरणों के दर्शनार्थ गये। वहाँ से लौटकर हम लोगों को यह शुभ समाचार बताया कि श्री गुरुदेव जी उसी दिन निधौली के प्रोग्राम पर जाने वाले हैं। हम सभी पिताजी को लेकर अनाथनाथ अशरण शरण भक्तवत्सल श्रीगुरुदेव जी के चरण कमलों के दर्शनार्थ गये। वहाँ हम सभी ने दर्शन किये। दण्डवत् प्रणाम किया। पिता जी की सम्पूर्ण व्यथा कह सुनायी तथा यह भी कहा कि नाथ! वहाँ इलाज की कोई व्यवस्था न होने के कारण इन्हें यहाँ ले आये हैं। परन्तु इन्हें अब तक कोई लाभ नहीं हो पाया है। करुणा सागर! मेरी लाज रखना मुझे कलंक न लग पाये, ये यहाँ से ठीक होकर ही लौटें। श्री गुरुदेव जी ने कहा लल्ली! तुम चिन्ता मत करो। तुम्हारे ऊपर कोई दोष नहीं आयेगा। यहाँ से यह ठीक होकर ही जायेगा, श्री प्रभु के वचनानुसार यही हुआ। पिता जी स्वस्थ होने लगे। वे पहले की भाँति कुछ दिनों में ही ही पूर्ण स्वस्थ गये। एक महीने के बाद गुरु पूजनपर्व आ गया। हम लोग आश्रम जाने की तैयारी करने लगे। चलते समय मूसलाधार वर्षा होने लगी थी। अन्य लोगों ने मना किया कि यह अभी कुछ दिन पूर्व इतने बीमार रहे हैं, इस वर्षा में

इन्हें मत ले जावो नहीं तो पुनः बीमार पड़ सकते हैं। इस पर पिताजी ने दृढ़ता से कहा कि यह गुरु-पूजन मेरा अन्तिम गुरु-पूजन है। अब मुझे गुरु पूजन करने को नहीं मिलेगा। श्री प्रभुजी की कृपा से हमें इस वर्षा से कोई कष्ट नहीं होगा। हुआ भी यही। हम लोग निर्विघ्न आश्रम आ गये। वहाँ श्री गुरुदेव भगवान का पूजन किया। लौटते समय पिताजी श्री गुरुदेवजी के कमरे का दरवाजा पकड़कर बड़ी देर तक रोते रहे। श्री गुरुदेवजी से उन्होंने प्रार्थना की कि हमें कोई कष्ट न हो। वे रास्ते में भी रोते रहे। बार-बार यही कहते थे कि अब मुझे इस दरबार का दर्शन नहीं मिलेगा।

एटा में हमारे साथ वे जन्माष्टमी तक रहकर मुगरिहा लौट गये थे। घर लौटते समय पिताजी ने मुझसे कहा था कि बेटी! मैं तीन काम पूरा नहीं कर सका। एक तो मुगरिहा में मैं अपने श्री गुरुदेवजी का पदार्पण उत्सव न मना सका। दूसरा जो भूमि श्री गुरुदेव भगवान के नाम मैंने संकल्प की थी उसे उनके नाम न कर सका। तीसरे तुम्हारे किसी बच्चे की शादी न कर सका। तुम सभी अब छूट रहे हो। उस दिन मैं उन्हें निरोग समझ कर बोली थी कि—पिताजी अब आप पूर्ण स्वस्थ हैं। डाक्टरों ने इस बात की पुष्टि की है। अतः अब आप क्यों व्यर्थ की चिन्ता कर रहे हो। सब कार्य यहाँ आप अब समयानुसार पूरा कर लीजियेगा। तब यह सुनकर वे रोते हुये बोले कि बेटी! मैं निरोग तो श्री गुरुदेव भगवान की कृपा से अवश्य हो गया हूं, परन्तु अब मुझे उनकी ही कृपा से अपना अन्तिम समय भी ज्ञात हो चुका है। वह अब सन्निकट है। अब न तो कोई काम ही कर सकता हूं और न जो मुझसे छूटने जा रहे हैं वही अब कभी देखने को मिलेंगे। इन सब बातों को कहकर वे घर चले गये थे।

घर पहुँचकर ग्राम में सभी से प्रेमपूर्वक भेंट की। और अब वे श्री प्रभुजी के चिन्तन एवं ध्यान में मग्न रहने लग गये थे। माताजी कहती थीं कि वे तीन-तीन घण्टे पूजा गृह में ध्यान में मग्न बैठे रहते थे। पूजा गृह से बाहर बड़ी प्रसन्नता से हँसते हुये निकलते थे। मृत्यु के चार रोज पूर्व उनको अपने अन्तिम समय का पूरा-पूरा ठीक निश्चित समय ज्ञात हो गया था। अनन्त चौदस को प्रातः स्नान करते समय बड़े प्रसन्न थे। कहते जाते थे कि कल की पूर्णिमा है। देखो दिन सोमवार है। भगवान शंकरजी का यह दिन है। जो इस दिन ब्रह्म मुहूर्त में प्राण त्यागेगा उसको श्री प्रभुजी गुरुदेव भगवान की कृपा से वैकुण्ठ का खुला दरबार मिलेगा। चौदस को वे घण्टों पूजा करते रहे। बड़े देर बाद पूजा से निकलकर भोजन इत्यादि करके वे ग्राम में घूमने चले गये। जबसे डकैती पड़ी थी, उस समय से पिताजी गाँव में किसी के यहाँ जल्दी नहीं जाते थे। लोगों ने एकाएक पिताजी को गाँव में घूमता देखकर बड़ा सत्कार किया। कुछ लोगों ने भोजनकरने

के लिये आग्रह किया, पर उन्होंने विनम्रता-पूर्वक अस्वीकार कर दिया। एक ब्राह्मण जो मास्टर हैं और लोग उन्हें शास्त्रीजी कहते हैं, उनसे पिताजी को बहुत स्नेह था। जब पिताजी उनके यहाँ से घर लौटने लगे थे तो शास्त्रीजी ने उन्हें तम्बाकू खाने को दिया। पिताजी तम्बाकू लेकर खाते हुए उनसे बोले—अगर कल तक जिन्दा रहेंगे तो फिर तुमसे मिलेंगे और तम्बाकू खायेंगे—अन्यथा यह अन्तिम तम्बाकू समझो। शास्त्रीजी की समझ में कुछ नहीं आया कि यह कह क्या रहे हैं? पिताजी के चचेरे भाई जिनका नाम देवीदयालसिंह था, अन्त में वे उन के पास भी गये। उनसे बड़ी प्रसन्नता से भेंट भर कर बोले—देखो! भाई हमने अपने श्री गुरुदेव भगवान को जिस जमीन का संकल्प कर दिया वह उनके नाम न कर सका। इस बात की एक बड़ी चिन्ता है। इतना कहकर वहाँ से चले आये। लगभग पाँच बजे साम के घर लौटे। दरवाजे पर हमारी बेटी लता थी। उससे पानी मँगाकर उन्होंने पिया था। फिर घर के नौकर ननकू को बुला कर बोले—आज तू ही भैंस और गायों को दुह ले। उसने कहा भैंस दुहना तो मुझे नहीं आता है। पिताजी उससे बोले—तून ही जानता तो कल से कौन दुहेगा? तेरे बुलाये दूध दुहने कोई नहीं आयेगा। चल आज तुझे दूध दुहना सिखावें। दूध नौकर से अन्दर भेजा और उसी से कह दिया कि इसकी रबड़ी बनाने को कह दो। कुछ देर बाद आप अन्दर गये और स्वयं अपने हाथ से रबड़ी बाँटकर नौकरों को खिलायी अपने लिये भी उन्होंने एक कटोरे में रबड़ी ली परन्तु यह कहते हुये उन्होंने नहीं खायी कि कल रबड़ी को ही लोग दोष देंगे। इसके खाने से ही मृत्यु हुआ ऐसा सोचेंगे। रात्रि में पैर नौकर से दबाते हुये उसे भक्त सुतीक्षणजी की कथा सुनाते रहे। बाद में मेरी माताजी से उन्होंने कहा कि

प्रभुजी की खड़ाऊँ—

आज श्री प्रभुजी की खड़ाऊँ की आवाज सुनायी पड़ रही है। इतना कहकर वे सो गये। रात्रि में तीन बजे उठकर माँ से कहा कि मुझे एक लोटे में जल्दी से पानी दो अब देर हो रही है। फफूँद वाले बाबाजी का हाथी आया है। उस पर श्री प्रभुजी, शंकरजी, गणेशजी आये हैं। हमको जाना है। माँ ने सोचा कि इन्होंने कोई स्वप्न देखा है। उसी की बात बता रहे हैं। पिताजी ने शौच से निवृत्त होकर स्नान किया। माताजी से बोले जरा नौकर को बुलाओ। माताजी नौकर को बुला लायी। पिताजी बोले ननकू तू पूरा बेटी को बुला ला। वह जैसी बैठी हो उसी तरह से यहाँ चली आवे। स्वयं यह कहकर पूजा गृह में चले गये। वे बड़ी देर बाद तक प्रभुजी से प्रार्थना कर रहते थे कि प्रभो! आपकी बड़ी कृपा है। आपके आज्ञा बिना तो धर्मराज भी किसी को बैकुण्ठ वास नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार वे प्रार्थना करके बाहर आये।

माताजी से बोले कि छत पर से देवीदयालसिंह को बुला लो। पुनः माँ से हुक्का भरवाया और पिया। तब तक ताऊजी आगये थे। पिताजी ताऊजी से कहने लगे आज हमारा तुम्हारा साथ छूट रहा है। ताऊजी ने कहा कि भाईजी क्या आपकी कुछ तबियत खराब है क्या डाक्टर को बुलवा दूँ यदि तबियत खराब हो तो। भाई मेरी तबियत खराब नहीं है परन्तु अब मेरा अन्त समय आ गया है। मना करने पर भी ताऊजी ने शास्त्रीजी को बुलवा लिया। उन्होंने उनका नब्ज देखा। नब्ज बिल्कुल ठीक था। उन्होंने कहा यह तो बिल्कुल ठीक है। इनको थोड़ा द्राक्षासव देना चाहो तो दे दो। परन्तु पिताजी ने लेने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा मुझे कोई कष्ट नहीं है। माताजी से बोले कि गुरुदेव पर परमकरुणा-सागर श्री गुरुदेव भगवान का दिया हुआ प्रसाद ला दो। मेरा वाला पुष्प प्रसाद, सिद्ध गुफा का रज प्रसाद ये सभी रुकर बड़े आह्लाद से खाया। ऊपर से ताल का जल एवं गंगा जल पी लिया। पुनः हँसते हुये पद्मासन से बैठ गये। आँख बन्द करके प्राणायाम किया। तभी माँ रोने लगी। तो उन्होंने आँखें खोलकर समझाते हुये कहा कि—तुम क्यों रोती हो। तेरे छह नाती हैं। श्री सतगुरु देव भगवान मौजूद है। रोओ मत उन्होंने दुबारा प्राणायाम करते हुये श्वांस खींचा और प्राण कोषों को त्याग कर प्रातःकाल की बेला इस असार संसार से महाप्रयाण कर गये।

उनका रुग्णावस्था का जीवन प्रभुजी और गुरुदेवजी की कृपापूर्ण गाथाओं का जीवन रहा जिसका कुछ वर्णन मैंने ऊपर किया है।

यह नर देह

यह नरदेह समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार सागर से पार होने के लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरणग्रहण मात्र से ही श्री सद्गुरुनाथ इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं और स्मरण मात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीर के द्वारा संसार सागर से पार नहीं होता वह तो अपने हाथों अपनी आत्मा का हनन करता है।

—श्रीमद्भागवत्

॥ ध्यान योग ॥

[श्री किशोरी लाल शास्त्री]

— ०⁂० —

[२]

पहले यह बताया गया है कि बिना पर ब्रह्म की कृपा के कोई भी साधक अष्टांग योग में सफलता नहीं पा सकता। क्योंकि वेदों की घोषणा है कि जिस जीवात्मा को ब्रह्म अपने समीप बुलाना चाहता है या जीवन-मरण के संकट से छुड़ाना चाहता है वही जीवात्मा उस पर ब्रह्म को प्राप्त कर पाता है। और ब्रह्म की कृपा प्राप्त करने के लिये निर्गुण निराकार ब्रह्म ने ही अपनी सगुण साकार लीला स्वरूप इस संसार में अपने प्रतिनिधि के रूप में हम लोगों को परम मोक्ष प्राप्ति कराने के लिये पूज्य पाद श्री गुरुदेव की कृपा प्राप्त करने का संकेत किया है—जैसा कि साधकों ने स्पष्ट कहा है :—

श्री गुरु बिन भव निधि तरै न कोई।
जो बिरंचि शंकर सम होई॥

अतएवं हमें श्री गुरु कृपा प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये, जिससे यह मानव जन्म सफल हो जावे। क्योंकि मानव जन्म का लक्ष्य केवल इन्द्रियों के विषयों को भोगना ही नहीं है। प्रत्युत इन्द्रियों के विषय भोगों को त्यागकर मोक्ष प्राप्त करना ही प्रधान लक्ष्य (कर्तव्य) है। यह लक्ष्य कैसे प्राप्त होगा? इस पर आगे विचार-विमर्श किया जाता है।

यह भी जा चुका है कि हमको साधना में आगे बढ़ने के लिये श्री पूज्यपाद गुरुजी के आदेश का ही सच्चा सहारा है परन्तु मानव प्रकृति में एक बड़ा दोष है कि वह श्री गुरुदेव की भी गलतियों या कमियों को भी देखने (जानने) का उत्सुक रहता है और देख भी लेता है परन्तु संकोच वश कह नहीं पाता जिससे कि उसकी श्रद्धा विश्वास अपने आप कम होने लगता है और वह साधन पथ में आगे बढ़ने से रुक जाता है। इसी की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राचीन साधकों ने की है और उससे अपनी हानि का अनुभव कर उन्होंने स्पष्ट कहा है कि :—

'दोषा वाच्या गुरोरपि'

अर्थात् गुरु जी में दिखने वाले दोषों को भी कहना चाहिये। परन्तु इस वाक्य में यह स्पष्ट नहीं है कि किससे कहना चाहिये? अतएव इस अस्पष्टता के कारण मानव अपनी मानसिक कमजोरी के कारण, धैर्य से विचार न कर, जल्द बाजी में उन दोषों को यत्र-तत्र कहता है जिससे वह स्वयं की अपनी हानि करता ही है, साथ ही साधन पथ में आगे

बढने को उत्सुक साधकों को भी आश्रद्धा पैदा करके उत्साह हीन बना देते हैं। अतएव इस सम्बन्ध में विशेष सावधान और धैर्यवान तथा विचारशील होने की बड़ी आवश्यकता है। यथार्थ में सिद्ध गुरुओं में कोई दोष नहीं होता, क्योंकि वे इन्द्रियों के विषयभोगों से विरक्त होते हैं, केवल शरीर की स्थिति के लिये और लोककल्याण के लिये ही लौकिक व्यवहारों का किंचित् व्यवहार प्रदर्शित करते हैं, जिससे साधक एकदम ही संयम की असम्भवना को देखकर साधन पथ में आने की उत्सुकता को न छोड़ दे। प्रत्युत इसी गुरुजनों के लौकिक व्यवहार को देखकर बहुत से असंयमी पुरुष भी योगसाधना पथ को सुगम समझ कर साधक बन जायें। इसी से जीवात्माओं को जन्म मरण के ही बन्धन से मुक्त करने के लिये, सिद्ध गुरुजनों ने शिक्षोपनिषद् में स्पष्ट शिक्षा दी है, जिसे प्रत्येक साधक को प्रतिक्षण स्मरण रखते हुए सावधानी से आगे बढ़ना चाहिए।

१ सत्यंवद – सत्य बोलो ॥ १ ॥

२ धर्मंचर—धर्म का आचरण करो॥ २॥

३ यानिनो अनवद्यानि चरितानि, तानि त्वयोपास्यानि।

हमारे जो आचरण तुम्हारी दृष्टि में दोष-रहित हैं, तुम उनकी नकल करो अर्थात् तुम भी वैसा आचरण करो ॥ ३ ॥

४ नवेराणि। (न+इतराणि)।

अर्थात् हमारे जिन आचरणों को तुम दोषयुक्त समझते हो, बुरे समझते हो, या पतन करने वाले समझते हो, या लौकिक आदर्श व्यवहार के विपरीत समझते हो, उनका आचरण मत करो ॥ ४ ॥

इस चौथे निषेध वाक्य ने साधक शिष्यों को सावधान किया है। क्योंकि कुछ सिद्ध पुरुष जन संमर्द से बचने के लिये भी कुछ सदोष दीखने वाले आचरण करते देखे जाते हैं। जिससे जनता उनसे दूर रहे और वे अपने आध्यात्मिक साधन में निरन्तर आगे बढ़ते रहें। क्योंकि गुरुजनों की सिद्धियां ही उन्हें जनसमूह में आसक्ति दिखाकर पतित कर देती हैं जो कि वे किसी अज्ञात संयोगवश किसी किसी सेवक के सामने प्रकट कर देते हैं। इसी से ये लोग कभी-कभी अपनी तरफ आकृष्ट हुए जनसमूह का पीछा छुड़ाने के लिये आश्रद्धा उत्पन्न करने वाले आचरणों का भी प्रदर्शन कर दिया करते हैं।

अतः हमें केवल ध्यान योग का ही सहारा लेना चाहिये, विचार योग का नहीं। इसी बात को कलियान बाजार गोस्वामी श्री तुलसीदासजी महाराज ने भी अपने रामचरित मानस में दृढ़ भावना को जागृत करने के लिये स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

मात पिता अरु गुरु की बानी।
बिनहिंविचार करिय हित मानी॥

इसी बात को वेदों में भी स्पष्ट कहा है :—

मातृदेवो भव,
पितृदेवो भव,
आचार्यदेवो भव,

इन वाक्यों में देव शब्द प्रकाश, ज्ञान, सुख आदि समस्त हितकारी भावों का द्योतक है, और आचार्य शब्द श्री गुरुदेव का बोधक है।

यहाँ पर यह विशेष रूप से विचारणीय है कि हमें ध्यान करना है तो किसका करें सगुण स्वरूप का या निर्गुण निराकार का ? इनमें निर्गुण निराकार का तो ध्यान ही नहीं बनता, क्योंकि उसका कोई स्वरूप नहीं, और इस विराट् विश्व का दर्शन करने वाला मन भला शून्य में कैसे स्थिर होगा ? वह तो संसार के दृश्यों की ओर ही भागेगा यही होता भी है, इसी से कहा गया है कि "मनो दुर्निग्रहं चलम्" अर्थात् मन बहुत चंचल है और बड़ी कठिनाई से रोका जा सकता है। और मन ही यथार्थ में बन्धन में डालने वाला है :—

मन एव मनुष्याणां,
कारण बंध मोक्षयोः।
बंधाय विषया सक्तं
मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मनुष्य का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। इन्द्रिय विषयों में आसक्त मन ही जन्म मरण के बन्धन में डालने वाला है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हुआ मन ही मोक्ष देने वाला है। अतएव मन को इन्द्रियों के विषय भी भोगने को मिलें और बन्धन भी न हो ऐसी युक्ति करना चाहिये। इसके लिये हमें सगुण साकार का ही ध्यान करना पड़ेगा। सगुण साकार का ध्यान करने पर उसकी पूजा का भी विधान होगा। पूजा के विधान में सभी इन्द्रियों के विषय भोगों के पदार्थ प्रयोग में आते हैं, जिनमें रसना इन्द्रिय का विषय षड्रस भोज्य पदार्थ अपने ध्येय इष्टदेव का प्रसाद समझकर अपने उपयोग में लाये जाते हैं। परन्तु इनके उपयोग से राजसी तामसी वृत्ति का उदय नहीं होता। क्योंकि इनमें इष्टदेव की कृपा का प्रभाव रहता है। यह बात अनुभव सिद्ध है, कोई भी साधक इसका अनुभव कर सकता है। इस साधन के द्वारा शनैः शनैः सर्वत्र अपने ही इष्टदेव का दर्शन होने लगता है। इस सम्बन्ध में दक्षिण के सन्त का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है जिन्होंने कुत्ते में भगवान विट्ठलनाथ के दर्शन किये थे। कथा इस प्रकार है कि एक दिन सन्तजी भिक्षा में आटा लाये, उससे टिक्कड़ (हाथ की रोटी) बनाईं, और घी कटोरी में गरम होने को अग्नि पर रखकर हाथ धोने लगे और आटे का बर्तन भी साफ करने लगे। इतने में ही

एक कुत्ता आया और सब टिक्कट मुख में दबाकर चल दिया। जब सन्त की दृष्टि कुत्ते पर पड़ी तो उन्हें क्रोध नहीं आया, बल्कि उस कुत्ते पर पड़ी तो उन्हें क्रोध नहीं आया, बल्कि उस कुत्ते में ही उन्हें अपने इष्टदेव का दर्शन हुआ और आगे घी की कटोरी लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ते हुए कहते हैं कि "प्रभो! इतनी अधिक भूख लगी थी कि आप सूखे टिक्कड़ ही लेकर चल दिये, यह घी तो चुपड़ देने दीजिये।" सन्त की वाणी सुनकर कुत्ता जोर से भागा और सन्त भी उसी प्रकार कहते हुए पीछे-पीछे दौड़ने लगे। जनसमूह भी चकित होकर इस अद्भुत खेल को देख रहा था, और सन्त को पागल समझकर वहीं खड़ा रह गया। परन्तु कुत्ता बहुत दूर चला गया, जनता की दृष्टि से ओझल हो गया और संत भी ओझल हो गये। एकान्त में पहुंचकर कुत्ता खड़ा हो गया जब सन्त ने उनटिक्कड़ों को लेकर बड़े प्रेम से घी चुपड़कर खिलाना प्रारम्भ किया - तो कुत्ते के शरीर में प्रकट होकर विट्ठलनाथ ने दर्शन दिये।

यह भक्तियोग या सच्ची सात्विक श्रद्धा का ही परिणाम है, जो अनेक जन्मों के साधन से ही प्राप्त होता है। इस भावना के स्वरूप का दर्शन गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने श्री रामचरित मानस के प्रारम्भ में वन्दना के प्रसंग में दिखाया है :—

सियाराम मय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

अब हमें 'अनेक जन्म' शब्द से निराश न होकर यहीं इसी जन्म में सिद्धि (सफलता) मिलने वाली है, पिछले जन्मों में हम पूर्ण साधन कर आये हैं ऐसा मान कर ही साधना में लग जाना चाहिये। परन्तु यह सब विचार विमर्श ध्यान योग के सम्बन्ध में किया जा रहा है इससे हमें यह भी निर्णय कर लेना चाहिये कि हम सगुण साकार ब्रह्म के मानवाकार, स्वरूप का ध्यान करना है या किसी विशेष अंग का ही ध्यान हमें शीघ्र सफलता प्रदान करेगा? इस सम्बन्ध में लौकिक विचारधारा के अनुसार विवेचना करने पर तो शरीर के सभी अंगों के ध्यान में लौकिक आलोचना और आकर्षण के जाल में फँस जाने की सम्भावना प्रतीत होती है, क्योंकि उनके सौन्दर्य असौन्दर्य के भाव मन में भरे हुए हैं वे अवश्य जागृत होंगे। इससे हमें केवल चरणों का ही ध्यान करना निरापद जान पड़ता है। चरणों के ध्यान में इन्द्रियों के विषयों की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं है, इसकी पुष्टि में आदि कवि महर्षि वाल्मीकि की रामायण में लक्ष्मणजी की उक्ति सर्वथा अनुकूल बैठती है—जिस समय ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव ने श्री रामजी को श्रीसीताजी आभूषण दिये तब श्रीराम ने लक्ष्मणजी से कहा - भैया! इन आभूषणों को पहचानो,

क्या सचमुच ये जानकीजी के ही हैं? तब लक्ष्मणजी उन आभूषणों को देखकर कहते हैं -

कुंडले नैव जानामि,
नैव जानामि कंकणे।
नूपुरा नैव जानामि,
नित्यं पादाभिवंदनात् ॥

मैं कुंडलों को नहीं पहचानता, और कंकणों को नहीं पहचानता, क्योंकि मैंने कभी उन्हें देखा ही नहीं। केवल नूपुरों को ही पहचानता हूं, क्योंकि नित्य ही चरणों में प्रणाम किया करता था, नूपुर चरणों के आभूषण हैं- इन्हें नित्य देखता था। इससे यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि लक्ष्मणजी ने कभी सिर उठाकर श्री सीताजी का सावधानी से दर्शन नहीं किया। सर्वदा वे श्री सीताजी के चरणों का ही ध्यान करते रहते थे। चरणों का ध्यान करने से मन पवित्र और शान्त बना रहता है। इसी से तो भक्त लोग सदा चरणों का ही ध्यान करते हैं। हमें भी अपने इष्टदेव (श्रीगुरुदेव) के चरणों का ही सदा ध्यान करना चाहिये चरणों की शक्ति तो अनुमान से भी परे है। सब जानते हैं कि श्री मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की चरण रज (धूलि) के स्पर्श से ही शिला बनी हुई महर्षि गौतम की पत्नी अहिल्या सजीव हो गई थी। इसी से भक्त जन भगवान् का ध्यान करने में भी इस बात की सावधानी रखते हैं कि कहीं उनका मन किसी अंग में न उलझ जाय। भगवान के पूर्ण शरीर का ध्यान करते हुए भी चरणों को ही प्रधान लक्ष्य बनाने वाला ध्यान कीजिये।

करारविन्देन पदारविन्दम्।
मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटेशयानम्।
बाल मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥१॥

चरणकमल को करकमल से पकड़कर मुखकमल में स्थापित करते हुए, वटपत्र के दोना में लेटे हुए बाल मुकुन्द भगवान् को मैं मन से स्मरण करता हूं।

मन से स्मरण करना ही ध्यान है। यहाँ चरण को ही लक्ष्य बनाया गया है। वह चरण भी कैसा? जिसे स्वयं ब्रह्म भी बाल-स्वरूप बनकर मुख से चूसता है। यह ब्रह्म का अभिनय भी हमें केवल चरण का ही ध्यान करने की ओर सजग कर रहा है। इस ध्यान से चकित होकर किसी भक्त शिष्य ने श्री गुरुदेवजी से जिज्ञासा की- हे गुरुदेव! यह बताइये कि इस स्वरूप के दर्शन की कथा तो श्री महर्षि मार्कंडेय के महाप्रलय के दर्शन से सम्बन्धित है। महाप्रलय के स्वरूप का दर्शन करने में ब्रह्म (भगवान्) ने महर्षि को अपना यह रूप क्यों दिखाया?

चतुर्भुज स्वरूप दिखा सकते थे। श्री गुरुदेव ने कहा वत्स ! इस बालमुकुन्द स्वरूप के दिखाने का अभिप्राय यही है कि मेरे चरणों में ही सर्व कामनाओं के पूर्ण करने की असीम शक्ति है—इसी का ध्यान करने से ही जन्म मरण के बन्धन से मोक्ष मिलता है जीवात्मा सर्वशक्तिमान् (ब्रह्म) बन जाता है। मैं भी भक्तों के ध्यान का अनुभव करने के लिये ही अपने चरण को मुख में स्थापित कर चूस रहा हूँ। श्री गुरुदेव के इस उत्तर को सुनकर श्रद्धालुभक्त कामना करता है कि—

विहाय पीयूष रसं मुनीश्वराः।
ममांघ्रि राजीव रसं पिबन्ति किम्।
इति स्व पादाम्बुज पान कौतुकी।
स गोपबालः श्रिय मातनोतु ॥१॥

जो, परमात्मा—"मुनीश्वर लोग अमृत-रस को छोड़कर अपने मनरूपी भृंग के द्वारा मेरे चरण कमल के रस को क्यों पीते हैं?" ऐसा विचार कर अपने चरणकमल के रस के पीने का कौतुक करता है वह गोपबालक रूपधारी (ब्रह्म) मुझे या सर्व प्राणियों को श्री (सुख-ऐश्वर्य-धन-मोक्ष) प्रदान करें।

इस प्रकार हम भी अपने इष्टदेव के चरणकमल का ध्यान कर, उसकी अचिन्त्य शक्ति को पाने के अधिकारी बनने का प्रयत्न करें, तो सम्भव है इसी जन्म में ही जन्म मरण के बन्धन से सदा के लिये मुक्त हो जायें।

यम और नियम का भेद

धर्म का यम रूप भाग नहीं बदलता; लेकिन नियम रूप भाग बदलता रहता है। यम का अर्थ है यह कि धर्म का त्रिकालाबाधित भाग सत्य, अहिंसा, संयम, दया, प्रेम, परोपकार, ब्रह्मचर्य आदि बातों को यम संज्ञा दी गई है। संध्या करना, स्नान करना, खाना, पीना, जनेऊ पहनना, गन्ध लगाना हजामत बनाना, आदि बातें नियम के अन्तर्गत आती हैं। यम का अर्थ है अचल धर्म और नियम का अर्थ है चल धर्म। स्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब यमों का विचार न करके केवल नियमों को ही महत्त्व दिया जाता है तब समाज का नाश होता है। लेकिन आज तो हमें इस स्मृति-वचन का स्मरण भी नहीं है। आज हमने नियमों को ही महत्त्व दे रखा है। जनेऊ, गन्ध, चोटी ही धर्म बन गया है। हम यम की कदर नहीं करते। नियम ही मानो हमारे सर्वस्व हो गए हैं।

जीवन क्या है

[श्री मिट्ठनलाल गुप्त]

जीवन निराशा और बेचैनी का नाम नहीं,
यह आशा और प्रसन्नता का पुंज है।
जीवन काम, क्रोध और लोभ का कृत्रिम घोल नहीं,
यह संयम और त्याग का वास्तविक मिश्रण है।
जीवन भ्रष्टाचार और अत्याचार की संकीर्ण गली नहीं,
यह सदाचार और दया का विशाल प्राङ्गण है,
जीवन ईर्ष्या, द्वेष और घृणा का शुष्क जंगल नहीं,
यह प्रेम और सहानुभूति का हरा उद्यान है।
जीवन स्वार्थ और अपकार नहीं,
परमार्थ और परोपकार है।
जीवन कुत्सित विचार नहीं,
पवित्र भावनायें हैं।
जीवन निरर्थक वाणी नहीं,
सार्थक अभिव्यक्ति है।
जीवन लेना नहीं, देना है,
ग्रहण नहीं समर्पण है।
जीवन विघटन नहीं, समन्वय है,
विध्वंस नहीं, निर्माण है।
जीवन अभिशाप नहीं, वरदान है,
पाप नहीं पुण्य है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

उपाध्याय श्री अमरमुनि महाराज

ब्रह्मचर्य का अर्थ—स्त्री-पुरुष के संयोग एवं संस्पर्श से बचने तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः आत्मा को अशुद्ध करने वाले विषय-विकारों एवं समस्त वासनाओं से मुक्त होना ही ब्रह्मचर्य का सही अर्थ है। आत्मा की शुद्ध परिणति का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य आत्मा की निर्धूम ज्योति है। अतः मन, वचन एवं कर्म से वासना का उन्मूलन करना ही ब्रह्मचर्य है।

स्त्री-संस्पर्श एवं सहवास का परित्याग ब्रह्मचर्य के अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करता। एक व्यक्ति स्त्री का स्पर्श नहीं करता और उसके साथ सहवास भी नहीं करता, परन्तु विकारों से पीड़ित है। रात-दिन विषय-वासना के बीहड़ वनों में मारा-मारा फिरता है, तो उसे हम ब्रह्मचारी नहीं कह सकते। और विशेष परिस्थिति में निर्विकार भाव से स्त्री को छू लेने मात्र से ब्रह्म-साधना नष्ट हो जाता है ऐसा कहना भी भूल होगी। गांधीजी ने एक जगह लिखा है—"ब्रह्मचारी रहने का यह अर्थ नहीं है कि मैं किसी स्त्री का स्पर्श न करूँ, अपनी बहिन का स्पर्श भी न करूँ। ब्रह्मचारी होने का यह अर्थ है कि स्त्री का स्पर्श करने से मेरे मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, जिस तरह एक कागज को स्पर्श करने से नहीं होता।"

जैनागमों में भी साधु-साध्वी को आपत्ति के समय आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे का संस्पर्श करने का आदेश दिया गया है। साधु सरिता के प्रवाह में प्रवहमान साध्वी को अपनी बाहुओं में उठाकर बाहर ला सकता है। असाध्य बीमारी के समय यदि अन्य साधु-साध्वी सेवा करने योग्य न हो तो साधु भ्रातृ-भाव से साध्वी की और साध्वी भगिनी-भाव से साधु की परिचर्या कर सकती है। आवश्यक होने पर एक-दूसरे को उठा-बैठा भी सकते हैं। फिर भी उनका ब्रह्मचर्य व्रत भंग नहीं होता। परन्तु यदि परस्पर सेवा करते समय भ्रातृत्व एवं भगिनित्व-भाव की निर्विकार सीमा का उल्लंघन हो जाता है, मन-मस्तिष्क के किसी भी कोने में वासना की झंकार झंकृत हो उठती है, तो उनकी ब्रह्म-साधना दूषित हो जाती है। ऐसी स्थिति में वे प्रायश्चित के अधिकारी बताए गए हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि आगम में साधु-साध्वी को उच्छृङ्खल रूप से परस्पर या स्त्री-पुरुष का संस्पर्श करने का निषेध है। क्योंकि उच्छृङ्खल भाव से सुषुप्त वासना के

जागृत होने की सम्भावना है, और वासना का उदय होना साधना का दोष है। अतः वासना का त्याग एवं वासना, को उद्दीप्त करने वाले साधनों का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। वासना, विकार एवं विषयेच्छा आत्मा के शुद्ध भावों की नाशक है। अतः जिस समय आत्मा के परिणामों में मलिनता आती है, उस समय ब्रह्म-ज्योति स्वतः ही धूमिल पड़ जाती है।

'ब्रह्मचर्य' शब्द भी इसी अर्थ को स्पष्ट करता है। ब्रह्मचर्य शब्द का निर्माण—'ब्रह्म' और 'चर्य'- इन दो शब्दों के संयोग से हुआ है। गांधी ने इसका अर्थ किया है—ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की, सत्य की शोध में चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा के शुद्ध-भाव और चर्या का अभिप्राय है—चलना, गति करना या आचरण करना। शुद्ध-भाव कहिए या परमात्म-भाव कहिए या सत्य-साधना कहिए—बात एक ही है। सबका ध्येय यही है कि आत्मा को विकारी भावों से हटाकर आत्म-परिणति में केन्द्रित करना। आत्मा की शुद्ध परिणति ही परमात्म ज्योति है, ब्रह्म-स्वरूप है, अनन्त सत्य की सिद्धि है और इसे प्राप्त करने की साधना का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की साधना, सत्य की साधना है, परमात्म स्वरूप की साधना है। ब्रह्म व्रत की साधना वासना के अन्धकार का समूलतः छेदन करने की साधना है।

शक्ति का स्रोत

ब्रह्मचर्य, जीवन की साधना है, अमरत्व की साधना है। महापुरुषों ने कहा है—ब्रह्मचर्य जीवन है। वासना मृत्यु है। ब्रह्मचर्य अमृत है वासना विष। ब्रह्मचर्य अनन्त शान्ति है, अनुपम सुख है, वासना अशान्ति एवं दुःख का अथाह सागर। ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना कालिमा। ब्रह्मचर्य ज्ञान-विज्ञान है, वासना भ्रान्ति एवं अज्ञान। ब्रह्मचर्य अजेय शक्ति है, अनन्त बल है, वासना जीवन की दुर्बलता, कायरता एवं नपुंसकता।

ब्रह्मचर्य, शरीर की सच्ची शक्ति है। जीवन का ओज है। जीवन का तेज है। ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम हमारे शरीर को सशक्त बनाता है। वह हमारे मन को मजबूत एवं स्थिर बनाता है। हमारे जीवन को सहिष्णु एवं सक्षम बनाता है। क्योंकि आध्यात्मिक साधना के लिए शरीर का सक्षम एवं स्वस्थ होना आवश्यक है। वस्तुतः मानसिक एवं शारीरिक क्षमता आध्यात्मिक साधना की पूर्व-भूमिका है। जिस व्यक्ति के मन में अपने आपको एकाग्र करने की, विचारों को स्थिर करने की तथा शरीर में कष्टों एवं परीषहों को सहने की क्षमता नहीं है, आपत्तियों की संतप्त दुपहरी में हँसते हुए आगे बढ़ने का साहस नहीं है, वह आत्मा की शुद्ध ज्योति का साक्षात्कार नहीं कर सकता। भारतीय-संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि—"जिस शरीर में बल नहीं है, शक्ति नहीं है,

क्षमता नहीं है, उसे आत्मा के दर्शन नहीं होते। सबल शरीर में ही सबल आत्मा का निवास होता है।" इसका तात्पर्य इतना ही है कि परीषहों की आँधी में भी मेरु के समान स्थिर रहने वाला सहिष्णु व्यक्ति ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचान सकता है। परन्तु कष्टों से डर-कर पथ-भ्रष्ट होने वाला कायर व्यक्ति आत्म-दर्शन नहीं कर सकता।

अतः आत्म-साधना के लिए सक्षम शरीर आवश्यक है। और शरीर को सक्षम बनाने के लिए ब्रह्मचर्य का परिपालन आवश्यक है। क्योंकि मन को, विचारों को, वाणी को एवं शरीर को दुर्बल, अशक्त एवं कमजोर बनाने वाली वासना है। खाद्य पदार्थों की वासना मनुष्य को स्वाद-लोलुप बनाती है। स्वाद की ओर आकर्षित मनुष्य भक्ष्याभक्ष्य का विवेक भूल जाता है, समय एवं परिमाण को भूल जाता है और वह यह भी भूल जाता है कि उसे क्या खाना चाहिए? कैसे खाना चाहिए? कब खाना चाहिए? क्यों खाना चाहिए? और कितना खाना चाहिए? अतः अधिक एवं अण्ट-सण्ट वस्तुएँ खाने से उसकी वासना जाग उठती है, काम-भावना में वृद्धि होती है और पाचन-क्रिया ठीक नहीं होने से रोग आ घेरते हैं। और उसका परिणाम यह होता है कि वह दुर्बल एवं कमजोर हो जाता है। इसी तरह कान, आँख, नाक एवं स्पर्श-इन्द्रिय की वासना भी मन की स्थिरता को नष्ट कर देती है। इस तरह भोगों की वासना के निर्मम प्रहार से जीवन निस्तेज हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह कष्टों एवं परीषहों को जरा भी नहीं सह सकता, और सहिष्णुता के अभाव में वह आत्म-साधना कर नहीं सकता।

अतः साधना के लिए शरीर सशक्त हो। शारीरिक सक्षमता को बनाने के लिए वासनाओं पर नियन्त्रण होना चाहिए। क्योंकि वासनाओं के नियन्त्रण में रहने वाला मनुष्य वासनाओं का दास बन जाता है, दास ही नहीं, वह दास का भी दास बन जाता है। और गुलाम व्यक्ति न कभी अपनी ताकत को बढ़ा पाता है और न कभी आत्म-दर्शन ही कर है। आत्म-दर्शन करने का एक ही मन्त्र है— वासना पर नियन्त्रण करो, संयम से खाओ, संयम से पीओ, संयम से पहनो, संयम से देखो, संयम से बोलो, संयम से सूँघो, संयम से जीओ और कामनाओं का त्याग कर दो। क्योंकि भोगेच्छा एवं विषयों की कामना का त्याग किए बिना, हम मन एवं इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं रख सकते। अतः कामनाओं का त्याग करना ही वासनाओं पर विजय पाना है और यही शक्ति का मूल स्रोत है।

सच्चा विजेता

ब्रह्मचर्य का पालन एक कठोर साधना है, घोर तप है। इसके लिए केवल शरीर पर ही नहीं, मन पर, वाणी पर एवं इन्द्रियों पर भी कन्ट्रोल करना पड़ता है। मन, वचन एवं काय-योग को नियन्त्रण में रखना होता है।

सबको आत्मा में केन्द्रित करना पड़ता है। जब तक साधक अपने योगों को आत्म-चिन्तन एवं आत्म-साधना की प्रवृत्ति में नहीं लगा देता है, तब तक वह ब्रह्मचर्य की साधना में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने जीवन को परिवार, समाज, राष्ट्र एवं धर्म की सेवा में लगा दे। साधु को चाहिए कि वह स्वाध्याय एवं सेवा को अपना ध्येय बनाकर चले। जब उसके तीनों योग किसी शुभ कार्य में केन्द्रित हो जाएँगे, तो उन्हें न तो विषय-विकार का चिन्तन करने का अवसर मिलेगा और न वासनाओं की ओर भागने का अवकाश मिलेगा। अतः यह कहावत नितान्त सत्य है—"काम की दवा काम है।" मन, वचन और काय योग को किसी सत्कर्म में लगा दो, वासना का तूफान स्वतः ही शान्त हो जाएगा।

वासना, आत्मा का सबसे भयंकर एवं खतरनाक शत्रु है। इस पर विजय पाना आसान काम नहीं है। हजारों लाखों व्यक्तियों को परास्त कर देना सरल है, परन्तु वासना पर काबू पाना दुष्कर ही नहीं, महादुष्कर है। उसमें इन्सान की शारीरिक एवं सामरिक (शस्त्रों की) शक्ति का नहीं आत्म-शक्ति का परीक्षण होता है। विषय-वासना की ओर प्रवहमान योगों के प्रबल वेग को सेवा-शुश्रूषा एवं आत्मा-साधना की ओर मोड़ना, वेग से पूर्व की ओर बहते हुए एक खूंखार दरिया के प्रवाह को एकाएक पश्चिम की ओर मोड़ने से कम कठिन नहीं है। इसी कारण भगवान् महावीर ने हजारों-हजार योद्धाओं पर पाने वाली विजय नहीं कह कर, वासना पर प्राप्त विजय को ही सच्ची विजय कहा है। और गाँधीजी ने भी इस बात का समर्थन किया है कि—"ताकत के द्वारा विश्व पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा उच्छृङ्खल वासना पर विजय पाना अधिक कठिन है।"

भारतीय-संस्कृति का स्वर विजय का स्वर है। वस्तुतः वह विजय की संस्कृति है। बाह्य-विजय की नहीं, आत्म-विजय की। वह इन्सान को इन्सान से लड़ना नहीं सिखाती, बल्कि वासनाओं से संघर्ष करना सिखाती है। वह मानव को वासनाओं पर नियन्त्रण करने की प्रेरणा देती है। वह वासनाओं को फैलाने के पक्ष में नहीं है। उसका सदा यह स्वर रहा है कि वासनाओं को फैलाओ मत, समेटो। यदि तुम समस्त वासनाओं पर एकदम कन्ट्रोल नहीं कर सकते हो, तो धीरे-धीरे उन्हें वश में करने का प्रयत्न करो। यदि तुम्हारी गति धीमी है, तो इसके लिए घबराने जैसी बात नहीं है। परन्तु इस बात का सदा सर्वदा ध्यान रखो कि तुम्हारा प्रयत्न अपने आपको काम-भोग एवं विलासिता के क्षेत्र में फँसाने का नहीं होना चाहिये। क्योंकि विलासिता (Luxuriousness) विनाश है और संयम की ओर कदम बढ़ाने वाला व्यक्ति ही एक दिन वासना पर पूर्णतः (absolutely) विजय पा सकता है। इसलिए आत्म-विजेता ही सच्चा विजेता है।

साधना : एक कला

ब्रह्मचर्य की साधना, जीवन की एक कला है। अपने आचार-विचार और व्यवहार को बदलने की साधना है। कला वस्तु को सुन्दर बनाती है, उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि करती है। और आचार भी वही काम करता है। वह जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है। जीवन में शारीरिक सौन्दर्य से, आचरण का सौन्दर्य हजारों-हजार गुणा अच्छा है। श्रेष्ठ आचरण मूर्ति, चित्र एवं अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक आनन्द प्रदाता है। वह केवल अपने जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि अन्य व्यक्तियों के लिए भी आनन्दप्रद होता है। आचरण-हीन व्यक्ति सबके मन में काँटे की तरह खटकता है और आचार-सम्पन्न पुरुष सर्वत्र सम्मान पाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसके श्रेष्ठ आचरण का अनुकरण करता है। वह अन्य व्यक्तियों के लिए एक आदर्श स्थापित करता है। अतः आचार समस्त कलाओं में सुन्दरतम् है।

आचरण जीवन का एक दर्पण है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को देखा-परखा जा सकता है। आचरण व्यक्ति की श्रेष्ठता और निकृष्टता का मापक यन्त्र (Thermometer) है। आचरण की श्रेष्ठता उसके जीवन की उच्चता एवं उसके उच्चतम रहन-सहन तथा व्यवहार को प्रकट करती है। इससे उसके अन्दर कार्य करने वाली मानवता और दानवता का, मनुष्यता और पाशविकता का स्पष्ट परिचय मिलता है। मनुष्य के पास आचार, विचार एवं व्यवहार से बढ़कर कोई प्रमाण-पत्र नहीं है, जो उसके जीवन की सच्चाई एवं यथार्थ स्थिति को खोलकर रख सके। यह एक जीवित प्रमाण-पत्र है, जिसे दुनिया की कोई भी शक्ति झुठला नहीं सकती।

आचरण की गिरावट - जीवन की गिरावट है, जीवन का पतन है। व्यक्ति के द्वारा मात्र निम्न कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति पतित एवं अपवित्र नहीं हो जाता है। वस्तुतः पतित वह है, जिसका आचार-विचार निकृष्ट है। जिसके भाव, भाषा और कर्म निम्न कोटि के हैं, जो रात-दिन भोग-वासना में डूबा रहता है, वह उच्च कुल में पैदा होने पर भी नीच है, पामर है। यथार्थ में चण्डाल वह है, जो सज्जनों को उत्पीड़ित करता है, व्यभिचार में डूबा रहता है और अनैतिक व्यवसाय करता है या उसे चलाने में सहयोग देता है।

देश के प्रत्येक युवक और युवती का कर्त्तव्य है कि वह अपने आचार की श्रेष्ठता के लिए "Simple living and high thinking"—सादा जीवन और उच्च विचार अपनाता रहे। वस्तुतः सादगी ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ अलंकार है और उसे प्रकट करने के लिए किसी तरह की सजावट (Make-up) की आवश्यकता नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर की सफाई एवं स्वस्थता के लिए तैल-साबुन आदि का प्रयोग ही न किया जाए। यहाँ शरीर की सफ़ाई के लिए इन्कार नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि वास्तविक सौन्दर्य को दबाकर कृत्रिमता को उभारने के लिए विलासी प्रसाधनों का उपयोग करना हानिप्रद है। इससे जीवन में विलासिता बढ़ती है और काम-वासना को उद्दीप्त होने का अवसर मिल सकता है। अतः वास्तविक सौन्दर्य को छिपाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उसे कृत्रिम बनाने का प्रयत्न न करे। उसे कृत्रिम साधनों से चमकाने के लिए समय एवं शक्ति की बर्बादी करना मूर्खता है। हमारा बाहरी जीवन सादा और आन्तरिक जीवन सद्गुणों एवं सद्विचारों से सम्पन्न होना चाहिए।

सौन्दर्य आत्मा का गुण है। उसे चमकाने के लिए आत्म-शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें। अपने आप पर नियन्त्रण रखना सीखें। वासनाओं के प्रवाह में न बह कर, उन्हें नियन्त्रित करने की कला सीखें। यही कला जीवन को बनाने की कला है। और इसी का नाम आचार है, चरित्र (Character) है और नैतिक शक्ति (Moral Power) है। इसका विकास आत्मा का, जीवन का विकास है।

———

चरित्र-निर्माण

चरित्र निर्माण अर्थात् अपने जीवन को सदाचारमय बनाने के लिए सर्व प्रथम छोटी-छोटी जीवनोपयोगी बातों को अपने अन्दर धारण करना चाहिये। जीवनोपयोगी छोटी छोटी बातों को धारण करते करते मनुष्य एक दिन ऊँचे चरित्र का स्वामी बन जाता है। अतः हमें इन्हें छोटा और साधारण समझकर इनकी कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। अपने व्यवहार को ठीक रखना, जुआ आदि दुर्व्यसनों में न फँसना, वचन भङ्ग न करना किसी भी वस्तु को उसकी बिना अनुमति के ग्रहण न करना, सदा सत्य का व्यवहार रखना, सबके प्रति नम्रता तथा प्रेम का व्यवहार रखना, वार्तालाप में शिष्टता तथा सभ्यता का परित्याग न करना, सदा अनुशासन का पालन करना, मितव्ययी होना, इन सब गुणों को धारणा करने से मनुष्य शनैः शनै एक उच्च और महान् चरित्र का स्वामी बन जाता है। —श्रुतिसार

चित्त-शुद्धि

[श्री० एन०, व्यास, एडवोकेट इन्दौर (म० प्र०)]

— ०※० —

किसी भी कर्म की शुद्धि के लिये यह जानना परम आवश्यक है कि उसका सुगम स्थान कहाँ है। विचार करने पर मालूम होगा कि कर्त्ता के भाव और संकल्प से कर्म बनता है। 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' मन ही मनुष्य के बन्धन व मोक्ष का कारण है वही मनुष्य को चिर शान्ति प्रदान कर सकता है और वही उसे नरक में ले जाता है। यादृशी भावना अस्य सिद्धीर्भवति तादृशी। 'अतः यह सिद्ध हुआ कि जैसा जिस मनुष्य का भाव है वैसा ही उसका स्वरूप है। महर्षि पतंजलिजी कहते हैं 'योगश्चित्त वृत्तिः निरोधः' जीवात्मा चित्त की वृत्तियों का निरोध करके ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। कारण कि चित्त वृत्तियों के निरोध करने से ही चित्त शुद्ध होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम मनुष्य को अपना चित्त शुद्ध करना ही होगा। जगदात्मा योग योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीमद्भगवत् गीता के १५वें अध्याय के ११ वे श्लोक में स्पष्ट कहा है—

'यतन्तो योगिनश्चैनं
पश्यन्त्यात्मन्य वस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो
नैनं पश्यन्त्य चेतसः ॥

क्योंकि योगीजन भी अपने हृदय में स्थित हुए आत्मा को यत्न करते हुये ही तत्त्व से जानते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरण को (चित्त को) शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानी जन तो यत्न करते हुये भी इस आत्मा को नहीं जानते हैं।

अब हमें देखना यह है कि, चित्त को हम किन उपायों से शुद्ध कर लेने पर समर्थ हो पावेंगे। इसके लिये कुछ उपाय निम्नांकित हैं—

१ बुरे और अनावश्यक संकल्पों का त्याग ही चित्त शुद्धी का सर्वप्रथम उपाय है।

(अ) जिस काम से किसी का अहित होता है, तद् विषयक संकल्पों का नाम बुरे संकल्प है।

जिसका वर्तमान से सम्बन्ध न हो। जिस संकल्प को पूर्ण करने की साधक में योग्यता या शक्ति न हो। और यदि शक्ति या योग्यता हो तो भी वर्तमान काल में उसे पूरा करना आवश्यक न हो या सम्भव न हो, ऐसे संकल्पों का नाम है अनावश्यक संकल्प। उपर्युक्त कर्मों की निवृत्ति के पश्चात् साधक के मन में अनावश्यक और मन हो संकल्प उठते हैं, उनकी पूर्ति अपने आप होती है, यह प्राकृत नियम है।

(२) आवश्यक और भले संकल्पों की पूर्ति के सुख में रस न लेना। किन्तु परम-

कृपालु परमात्मा की अहैतु की कृपा का अनुभव करते हुये उनमें प्रेम और विश्वास पुष्ट करते रहना—यह चित्त शुद्धि का दूसरा उपाय है।

(अ) आवश्यक संकल्प—आवश्यक संकल्प उनको कहते हैं जिनके अनुसार साधक की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है और जिनकी पूर्ति का सम्बन्ध वर्तमान से, जैसे सोचना कि शरीर सम्बन्धी क्रिया विषयक संकल्प एवं अपनी योग्यता के अनुसार अन्यान्य वर्तमान प्रवृत्तिसे या निवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले संकल्प।

(ब) अच्छे संकल्प—उनको कहते हैं जिनमें किसी भी प्राणी की प्रसन्नता तथा हित निहित हो।

(२) जब कभी साधक को ऐसा प्रतीत हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पों की भी पूर्ति नहीं हो रही है तो उस समय मन में किसी भी प्रकार की निराशा या खिन्नता को मन में स्थान नहीं देना चाहिये, किन्तु ऐसा रूप आना चाहिये कि, प्रभु अब मुझे अपनाने के लिये या अपना प्रेम प्रदान करने के लिये मेरे मन की बात पूरी न करके अपने मन की बात पूर्ण कर रहे हैं। तथा ऐसे भाव से उन प्रेमास्पद के संकल्प में अपने संकल्पों को मिलाकर उनकी प्रसन्नता से और उनकी प्रेम प्राप्ति की आशा की पूर्ण उमंगों में आनन्दमग्न हो जाना, यह अन्तःकरण की परमशुद्धिका अन्तिम साधन है।

चित्त शुद्ध होने से निर्विकल्प स्थितीदेह रहित मोक्ष होता है। उस समय साधक के जीवन में सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तथा स्वाधीनता और सामर्थ्य—इनका अनुभव होता है, परन्तु उससे होने वाले सुख में भी साधक को सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये और नहीं उसका उपभोग ही करना चाहिये प्रत्युत उदासीन भाव से उसकी उपेक्षा करके भगवान के प्रेम एवं विश्वास को ही पुष्ट करते रहना चाहिये।

जिस साधक के पास न धन का बल है, न शरीर बल है, न बुद्धी बल है, न इन्द्रियबल है, न समाज का बल है और न सात्विक बल है, ऐसा दीन-हीन पतित से भी पतित मनुष्य सिद्ध सिद्धान्त के अनुसार सुगमता से अपने साध्यको अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं।

अपने सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये दूसरों के सिद्धान्त को आदर करना ही धर्म है।

\+ + +

क्रिया शुद्धी के लिये साधक को प्रथम अपने अहंभाव को शुद्ध करना आवश्यक है। विकल्प रहित यह निश्चय करे कि, मैं सर्व शक्तिमान प्रभु का हूँ। साधक जिस वर्णाश्रम या परिस्थिति में रहता हो उसे तो भगवान की नाट्यशाला का स्वांग समझे व तदनुसार

जो स्वांग जो कर्म जब करना आवश्यक हो उसे खूब, उत्साह व सावधानी के साथ प्रसन्नता से करता रहे उस अभिनय को अपना जीवन न माने। ऐसा होने से अभिनय के रूप में होने वाली प्रवृत्तियों का राग उसके चित्त पर अंकित नहीं होगा। इससे साधक को निर्वासना आ जायेगी। अभिनय करते हुये साधक यह भाव रखे कि, 'मैं उन प्रभु का हूँ। मैं जो कुछ कर रहा हूँ उन्हीं की प्रसन्नता के लिये कर रहा हूँ और मेरे इस अभिनय को प्रभु देख रहे है।' साधक को चाहिए कि प्राप्त विवेक द्वारा अपने मन की दशा को भली-भांति निरीक्षण करे कि, उसकी आन्तरिक रुचि क्या है ? उसमें कौन-कौन-सी आसक्ति छिपी है इस प्रकार मन के अन्तस्तल में रुचि और राग के रूप में छिपे हुये अपने दोषों को देख लेने पर वे दोष अपने आप नष्ट हो जाते है और चित्त शुद्ध हो जाता है यह प्राकृतिक नियम है। जब तक गुरुजनों और शास्त्रों द्वारा सुनकर अपने दोषों का क्षय होता है, उनको सद्गुणों की भावना से दबाते रहता है तब तक वे एक बार दबतो जाते है पर उनका सम्पूर्ण नाश नहीं होता। अतः पुनः मौका पाकर समय पर वे घोर रूप में भड़क उठते है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से देख लेने के बाद दोषों का मूल सहित नाश हो जाता है। यद्यपि बुद्धिजन्य विवेक द्वारा साधक दोनों को दोष रूप में समझता है, उनको छोड़ना भी चाहता है उसी प्रकार वह सद्गुणों का भी समझता है, उनको धारण करना भी चाहता है परन्तु जब तक हृदय व विवेक की एकता नहीं हो जाती मन को उन दोषों में रस आता रहता है, और गुणों के रस का अनुभव नहीं होता तब तक दोषों का त्याग व गुणों का संग्रह नहीं हो सकता। अतः साधक को चाहिये कि वह आत्म विवेक के द्वारा गहराई से अपने दोषों का निरीक्षण करके विवेक और हृदय की एकता स्थापित करे अर्थात् मन और बुद्धि में जो दूरी है उसे मिटाकर मन को बुद्धि में विलीन करदे। ऐसा होने से दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं होता। तब बुद्धी अपने आप सम और स्थिर हो जावेगी।

तुलसी--रामायण

[आजकल समूचे देश में श्री तुलसीकृत रामायण की चतुर्शती मनायी जा रही है। इसी सन्दर्भ में 'सिद्धयोग' के पाठकों की सेवा में आचार्य विनोबा भी दृष्टि में 'तुलसी रामायण' शीर्षक से यह उपयोगी लेख प्रेषित कर रहे हैं। — सम्पा०

तुलसीदासजी की रामायण का हिन्दुस्तान के साहित्यिक इतिहास में एक स्वतन्त्र स्थान है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रन्थ है; अतः राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिन्दुस्तान के सात-आठ करोड़ लोगों के लिए वेद-तुल्य प्रमाण माना गया है, नित्य-परिचित और धर्म-जागृति का आधार है; इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी उसे बे-जोड़ कहना चाहिए। और राम-भक्ति का प्रचार करने में 'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्' इस न्याय से वह वाल्मीकि-रामायण को भी पराजय का आनन्द देने वाली है, इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपना सानी नहीं रखता। तीनों दृष्टियाँ एकत्र करके विचार करने पर अनन्वयालंकार का उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण-युद्ध जिस तरह राम-रावण के युद्ध-जैसा था, उसी तरह तुलसी-रामायण तुलसी-रामायण जैसी ही है।

एक तो रामायण का अर्थ ही है मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र का चरित्र। तिस पर तुलसीदास ने उसे विशेष मर्यादा से लिखा है। इसीलिए यह ग्रन्थ कुमार बालकों के हाथ में देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसों का वर्णन नैतिक मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदास की जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसी की भक्ति संयमित है। इस संयमित भक्ति और उद्दाम भक्ति का अन्तर मूल राम-भक्ति और कृष्णभक्ति का अन्तर है। साथ ही, तुलसीदासजी का अपना भी कुछ है ही।

तुलसी-रामायण का वाल्मीकि-रामायण की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण से अधिक सम्बन्ध है। अधिकांश वर्णनों पर, खासकर भक्ति के उद्गारों पर, भागवत की छाप पड़ी हुई है, गीता की छाप तो है ही। महाराष्ट्र के भागवत धर्मीय सन्तों के ग्रन्थों से जिनका परिचय है, उन्हें तुलसी-रामायण में कहीं भी अधूरापन महसूस नहीं होता। वही निर्मल भक्ति, वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामा को जिस तरह अपनी नगरी में वापस आने पर मालूम हुआ कि कहीं मैं फिर से द्वारकापुरी में लौटकर तो नहीं आ गया, उसी तरह तुलसीदासजी की रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय सन्त-समाज के वचनों से परिचित पाठकों को 'हम कहीं अपनी पूर्व परिचित सन्त वाणी तो नहीं पढ़ रहे हैं', ऐसा आभास

हो सकता है; उसमें भी एकनाथजी महाराज की याद विशेष रूप से आती है। एकनाथ के भागवत और तुलसीदासजी की रामायण इन दोनों में विशेष विचार-साम्य है। एकनाथ ने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवत में उतरी है। एकनाथ के भागवत ने ही रानाडे को पागल बना दिया। एकनाथ कृष्ण-भक्त थे, तो तुलसीदास राम-भक्त। एकनाथ ने कृष्ण-भक्ति की मस्ती को पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्ण-भक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यन्त मर्यादाशील। इस कारण इस विषय में उन्हें तुलसीदासजी से दो नम्बर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजी की मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकाण्ड में है। उसी काण्ड में उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्या काण्ड में भरत की भूमिका अद्भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदास की ध्यानमूर्ति थे। इस ध्यानमूर्ति को चुनने में उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही राम के अनन्य भक्त थे, लेकिन एक को राम की संगति का भाग्य मिला और दूसरे को वियोग का। पर वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोग में ही भरत ने संगति का अनुभव पाया। हमारे नसीब में परमात्मा के वियोग में रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मण के जैसा संगति का भाग्य हमारा कहाँ! इसलिए वियोग को भाग्यरूप में किस तरह बदल सकते हैं, इसे समझने में भरत का आदर्श ही हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगति की अपेक्षा मानसिक संगति का महत्त्व अधिक है। शरीर से समीप रहकर भी मनुष्य मन से दूर रह सकता है। दिन-रात नदी का पानी ओढ़े सोया हुआ पत्थर गीलेपन से बिलकुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोग में ही मानसिक संयोग हो सकता है, उसमें संयम की परीक्षा है। भक्ति की तीव्रता वियोग से बढ़ती ही है। आनन्द की दृष्टि से देखें, तो साक्षात् स्वराज्य की अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न का आनन्द कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करने की रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तों में यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं माँगते, वे भक्ति में ही खुश रहते हैं। भक्ति का अर्थ बाहर का वियोग स्वीकार कर अन्दर से एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं, परम भाग्य है—मुक्ति से भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरत का यह भाग्य था। लक्ष्मण का भाग्य भी बड़ा था। पर एक तो हमारी किस्मत में वह नहीं और फिर कुछ भी कहिये, वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नहीं है; किन्तु उपवास मीठा है, यह भी है। भरत के भाग्य में उपवास की मिठास है।

लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में संन्यासी को लक्ष्य कर यह कटाक्ष किया

है कि 'संन्यासी को भी मोक्ष का लोभ तो होता ही है' पर इस ताने को व्यर्थ कर देने की युक्ति भी हमारे साधु-सन्तों ने ढूँढ़ निकाली है। उन्होंने लोभ को ही संन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्ति की नमक-रोटी से खुश हैं, मुक्ति की ज्योनार के प्रति उन्होंने अरुचि दिखायी है। ज्ञानेश्वर ने तो 'भोग, मोक्ष निवलोण, पायातलीं' (भोग और मोक्ष पैर तले पड़े हुए उतारा जैसे है), 'मोक्षाची सोडीबांधी करी' मोक्ष की पोटली को बाँधती-छोड़ती है, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथ की चीज है) 'चहूं पुरुषार्थां शिरीं। भक्ती जैसी' चारों पुरुषार्थों से श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनों में मुक्ति को भक्ति की टहलुई बनाया है। और तुकाराम से तो 'नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थिति भाव' (मुझे न ब्रह्म-ज्ञान चाहिए और न आत्म-साक्षात्कार) कहकर मुक्ति से इस्तीफा ही दे दिया है। 'मुक्तीवर भक्ति' (मुक्ति से भक्ति बढ़कर है) इस भाव को एकनाथ ने अपनी रचनाओं में दस-पाँच बार प्रकट किया है। इधर गुजरात में नरसी मेहता ने भी 'हरिना जन तो मुक्ति न मागे' (हरि का जन मुक्ति नहीं माँगता) ही गाया है। इस प्रकार अन्ततः सभी भागवत-धर्मी वैष्णवों की परम्परा मुक्ति के लोभ से सोलहों आने मुक्त है। इस परम्परा का उद्गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद से हुआ है। 'नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः—इन दीन जनों को छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होने की इच्छा नहीं है, यह खरा जवाब उन्होंने नृसिंह भगवान् को दिया। इस कलियुग में श्रौतस्मार्त संन्यास-मार्ग की स्थापना करनेवाले शंकराचार्य ने भी 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः' गीता के इस श्लोक का भाष्य करते हुए 'संगं त्यक्त्वा' का अर्थ अपने पल्ले से डालकर 'मोक्षेऽपि संगं त्यक्त्वा'—'मोक्ष की भी आसक्ति का त्याग कर', किया है।

तुलसीदासजी के भरत इस भक्ति-भाव की मूर्ति हैं। उनका माँगना तो देखिये :

धरम न अरथ न काम रुचि
गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद
यह बरदान न आन॥

यों तिलकजी के ताने को सन्तों ने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरत में वियोग-भक्ति का उत्कर्ष दिखाई देता है। इसीसे तुलसीदासजी के वह आदर्श हुए। भरत ने सेवा-धर्म को खूब निबाहा। नैतिक मर्यादा का सम्पूर्ण पालन किया, भगवान् का कभी विस्मरण नहीं होने दिया। आज्ञा समझकर प्रजा का पालन किया। पर उसका श्रेय राम के चरणों में अर्पण कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगर में रहकर वनवास का अनुभव किया। वैराग्य-युक्त चित्त से यम-नियमादि विषम व्रतों का पालन कर

आत्मा को देव से दूर रखने वाले देह के पर्दे को झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत जनमे होते, तो मुझ-जैसे पतित को राम-सम्मुख कौन करता :

सिय-राम प्रेम-पियूष-पूरन
होत जनम न भरत को।
मुनि-मन अगम जम-नियम
सम-दम विषम-व्रत आचरत को!
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन
सुजस-मिस अपहरत को!
कलिकाल तुलसी से सठहि,
हठि राम-सन्मुख करत को!!

रामायण में राम-सखा भरत, महाभारत में शकुन्तला का पराक्रमी भरत और भागवत में जीवन्मुक्त जड़ भरत ये तीन भरत प्राचीन इतिहास में विख्यात हैं। हिन्दुस्तान को 'भारत' वर्ष संज्ञा शकुन्तला के वीर भरत से मिली, ऐसा इतिहासज्ञों का मत है; एकनाथ के अनुसार ज्ञानी जड़-भरत से मिली है। सम्भव है, तुलसीदास को लगता हो कि यह राम-भक्त भरत से मिली है। चाहे जो हो, आज के वियोगी भारत के लिए भरत की वियोग-भक्ति का आदर्श सब प्रकार से अनुकरणीय है। तुलसीदासजी ने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभव से उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

कुछ विचार-कण

योगी को सम्प्रज्ञात समाधि के लिये तीन विषयों का अवलम्बन करना होता है :— (१) ग्रहीता, (२) ग्रहण और (३) ग्राह्य। ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते हैं, स्थूल और सूक्ष्म; ग्रहण का अर्थ इन्द्रिय और ग्रहीता से बुद्धि और आत्मा के उस अविविक्त भाव से तात्पर्य है जिसे 'अस्मिता' कहते हैं। तीरन्दाज जिस प्रकार स्थूल निशाने को साध कर क्रमशः सूक्ष्म निशाना साधने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल विषयों को और क्रमशः सूक्ष्म विषयों को ध्यान का आलम्बन बनाता है। पहले वह (१) स्थूलग्राह्य अर्थात् पंचभूत फिर (२) सूक्ष्मग्राह्य अर्थात् पंचतत्त्वमात्र फिर (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और सबके अन्त में (४) अस्मिता को अवलम्बन करके एकाग्रता की साधना करता है।

चित्त को चुराये लेती है, उनकी मुख छवि पर तो मैं अनन्त कामदेवों को निछावर करता हूँ।

माता कौशल्या चुटकी बजा-बजा कर नचाती हैं और प्रेम में भरकर बाल लीला गाती हुई दुलारती हैं। भगवान किलक-किलक कर हँसते हैं, उनके मुख में दो दो दांत शोभायमान हैं। तुलसीदास के हृदय में उनके अति मनोहर तोतले वचन बसे हुये हैं॥

श्री रामचरित मानस

काम कोटि छवि स्याम सरीरा।
नील कंज बारिद गभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती।
कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे।
नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।
नाभि गभीर जान जेहि देखा॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।
हिय हरि नख अति सोभा रूरी॥
उर मनिहार पदिक की सोभा।
बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई।
आनन अमित मदन छवि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे।
नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुन्दर श्रवन सुचारु कपोला।
अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे।
बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिया तन पहिराई।
जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥
रूप सकहिं नहि कहि श्रुति सेषा।
सो जानइ सपनेहु जेहि देखा॥

अर्थ—उनके नील कमल और गम्भीर मेघ के समान श्याम शरीर में करोड़ों कामदेवों की शोभा है। लाल चरण कमलों के नखों की ज्योति ऐसी मालूम होती है जैसे कमल के पत्तों पर मोती स्थिर हो गये हों। चरण तलों में वज्र, ध्वजा और अंकुश के चिह्न शोभित हैं। नूपुर की ध्वनि सुनकर मुनियों का भी मन मोहित हो जाता है। कमर में करधनी और पेट पर तीन रेखायें है। नाभि की गम्भीरता को तो वही जानते हैं जिन्होंने उसे देखा है। बहुत से आभूषणों से सुशोभित विशाल भुजायें हैं। हृदय पर बाघ के नख की बहुत ही निराली छटा है। छाती पर रत्नों से युक्त मणियों के हार की शोभा और ब्राह्मण (भृगु) के चरण चिन्हों को देखते ही मन लुभा जाता है। कंठ शंख के समान तीन रेखाओं से सुशोभित है और ठोढ़ी बहुत ही सुन्दर है। मुख पर असंख्य कामदेवों की छटा छा रही है। दो दो सुन्दर दँतुलिया हैं, लाल लाल ओठ हैं। नासिका और तिलक का तो वर्णन ही कौन कर सकता है। सुन्दर कान और बहुत ही सुन्दर गाल है, मधुर तोतले शब्द बहुत ही प्यारे लगते है। जन्म के समय से रखे हुये चिकने और घुंघराले बाल है जिनको माता ने बहुत प्रकार से बनाकर संवार दिया है। शरीर पर पीली झँगुली पहनाई हुई है। उनका घुटनों और हाथों के बल चलना मुझे बहुत ही प्यारा लगता है। उनके रूप का वर्णन वेद और शेषजी भी नहीं कर सकते, उसे वही जानता है जिसने कभी स्वप्न में भी देखा हो।

उपर्युक्त किसी भी प्रकार से ध्यान करना चाहिये। इससे स्वाभाविक आह्लाद उत्पन्न होता है। अब आगे आठवीं क्रिया का वर्णन किया जावेगा।

ज्ञानोत्तर जीवन-निर्वाह

[स्वामीजी श्री चिन्दानन्दजी सरस्वती महाराज]

ज्ञानोदय होने के बाद ज्ञानी - जीवन्मुक्त पुरुष को किस प्रकार की भावना में रहना चाहिये, इसका यहाँ विचार करना है। प्रथम तो—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात्,
क्रियाद्वैतं न कर्हिचित् ।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु
नाद्वैतं गुरुणा सह ॥

ज्ञानी को अद्वैत की भावना सदा करते रहना चाहिये, परन्तु व्यवहार में अद्वैत-भावना नहीं चलती। व्यवहार तो प्रकृति का क्षेत्र है, अर्थात् वहाँ तो गुणवैषम्य के अनुसार व्यवहार में भेद रहेगा ही दृष्टान्त यह है कि (१) गाय और बाघ, इन दोनों में अद्वैतदृष्टि से कोई भेद नहीं है; क्योंकि दोनों ही ब्रह्मरूप है। परन्तु व्यवहार के समय यह दृष्टि काम नहीं आती। गाय को घर में बाँधते हैं, बाघ को नहीं। (२) शक्कर और संखिया—शक्कर को न लोग खाते हे और संखिया को कोई खाय तो मर जाय। (३) अपनी माँ, स्त्री और बहिन—अद्वैत-दृष्टि से तीनों ही ब्रह्मरूप है, व्यवहार में भी तीनों स्त्रियाँ हैं; शरीर भी एक-सा है तथा एक ही आत्मा तीनों में है। फिर भी व्यवहार तो सम्बन्धानुसार यथायोग्य ही होना चाहिये। अन्यथा मनुष्य और पशु में कोई भेद ही नहीं रहेगा। अतएव अद्वैत भावना में ही होता है और व्यवहार तो द्वैत के बिना हो ही नहीं सकता।

तीनों लोकों में सर्वत्र अद्वैत की भावना करे, परन्तु गुरु के साथ तो अद्वैत की भावना भी नहीं की जा सकती। गुरु और शिष्य दोनों ही जीवन्मुक्त हों तथा अद्वैतनिष्ठा में हों, तथापि शिष्य के लिये उचित है कि गुरु को ईश्वर-तुल्य मानकर उनकी सेवा करे। समानता तो कभी की जा सकती ही नहीं। इसीलिये ज्ञानोत्तरकाल के व्यवहार के लिये कहा है—

यावदायुस्त्वयो वन्द्यो
वेदान्तो गुरुरीश्वरः ।
आदौ ज्ञानप्रसिद्ध्यर्थं
कृतघ्नत्वापनुत्तये ॥

गुरु और शास्त्र में ईश्वर-बुद्धि न हो तो ज्ञान का उदय ही न हो। अतएव पहले तो इन तीनों में पूज्यबुद्धि होनी चाहिये। (यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।) ज्ञान होने के बाद भी ऐसी बुद्धि रखनी चाहिये, अन्यथा कृतघ्नता का दोष लगेगा। अतः शरीर जब तक जीवित है, तब तक गुरु, शास्त्र और ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण भक्ति-भाव रखे। क्योंकि—

ईश्वरानुग्रहादेव
पुंसामद्वैतवासना ।

महाभयकृतत्राण
द्वित्राणामुपजायते ॥

ईश्वर के अनुग्रह से ही मनुष्य में अद्वैत-ज्ञान प्रकट होता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।

यह उसके बिना नहीं होता। यदि ज्ञान का अभिमान आ जाय और शरीर के रहते 'मैं ही ईश्वर हूँ' यह मान बैठे और गुरु-शास्त्र की अवमानना कर बैठे तो किया-कराया सब धूल में मिल जाता है। अतएव यह कहना पड़ता है कि किन्हीं विरले भाग्यशाली पुरुषों को ही अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऐसा अभिमान न आये, एतदर्थ जीवन-निर्वाह किस प्रकार की भावना में करना चाहिये—अब यही विचार करना है।

भगवान् श्री रामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री हनुमान्जी कहते हैं—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं
जीवदृष्ट्या त्वदंशकः ।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति
मे निश्चिता मतिः ॥

देहदृष्टि से दास हूं, जीवदृष्टि से अंश।
पर तू ही मैं तत्त्वतः, एतावत् सारांश ॥

इस प्रकार जब तक शरीर है, तब तक उससे सत्कर्म करते रहना चाहिये (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, गीता १८।४६)। स्वरूप से एक-रूप होने पर भी, जब तक शरीर की उपाधि है, तब तक ईश्वर के साथ समता न करे। तब फिर ईश्वर के साथ एकता कब होगी? 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव कब होगा?

इसके लिये करना कुछ नहीं है। केवल जब तक शरीर जीवित है, तब तक देखते रहना है—द्रष्टा-भाव में स्थिर रहना है। इस बात को समझाते हुए अवधूत दत्तात्रेय कहते हैं—

घटे भिन्ने घटाकाशमाकाशे लीयते यथा।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि ॥

जब घड़ा विद्यमान होता है, उस समय भी घटाकाश स्वरूप से तो महाकाश ही होता है। तथापि जब तक घटका आवरण है, तब तक उसका अनुभव नहीं होता, तद्रूपता नहीं होती। इसी प्रकार आत्मज्ञानी देह के विद्यमान रहते भी ब्रह्मरूप ही है। (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति) तथापि जब तक देह की उपाधि है, तब तक उसका अनुभव नहीं होता, तद्रूपता नहीं होती; तीनों देहों का नाश होने पर ब्रह्मरूप आत्मा अपने ब्रह्म रूप के साथ एकरूप हो जाता है। इस प्रकार की पूर्ण एकता तो विदेह-कैवल्य के समय ही होती है।

इसी भाव को कबीरदासजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है -

जिस मरने से जग डरे, उसमें मुझे अनंद।
कब मरिये, कब भेंटिये पूरन परमानंद ॥

तात्पर्य यह है कि जब तक देह में आत्म-भावना रहती है, तभी तक मृत्यु का भय बना रहता है। परन्तु आत्मज्ञान होने के बाद वह भय दूर हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि मृत्यु के आने पर ज्ञानी को हर्ष होता है; क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु तो उपाधि की होती है और उपाधि से छूटने में आनन्द किस को नहीं होता? इसी से कहा जाता है कि कब शरीर का भोग समाप्त हो और कब उपाधि से छूटकर पूर्ण आनन्दस्वरूप में एक-रस हुआ जाय।

श्री गुरुदेवजी का आगामी प्रचार कार्यक्रम

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई के वार्षिकोत्सव के पश्चात् श्री गुरुदेव के निर्देशन मे योग प्रचार शिविर कुम्भ मेला हरद्वार में आयोजित किया गया था—इसके उपरान्त उनका योग प्रचार कार्य्यक्रम इस प्रकार रहेगा :—

५ से मई ८ मई ७४ तक	समालखां मण्डी में योग प्रचार पता— द्वारा लाला फूलचन्द दुलीचन्द आढ़ती मनाने वाले समालखां मण्डी जिला करनाल हरयाणा
८ मई को	समालखां मण्डी से सिरसा के लिए प्रस्थान
१० मई से १६ मई तक	सिरसा में योग प्रचार कार्य्यक्रम पता— द्वारा मास्टर हुकमचन्द अग्रवाल नौहरिया बाजार, गली काण्डा वाली सिरसा जिला हिसार हरयाणा
१७ मई को	सिरसा से रुड़की के लिए प्रस्थान
१८ मई से २४ मई तक	रुड़की में योग प्रचार कार्य्यक्रम पता— द्वारा चन्द्रभान गुप्ता, सहायक अभियन्ता नलकूप २१०/२ रामनगर रुड़की जिला सहारनपुर
२५ मई से ८ जून तक	योगसाधन आश्रम ऋषिकेष में निवास एवं वार्षिकोत्सव का संचालन

Sidhayoga Regd. No. L. A. 0098

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

आत्म-विश्वास

जीवन को आदर्श और सुखमय बनाने के जहाँ अन्य अनेक साधन हैं, वहाँ आत्म विश्वास भी एक मुख्य साधन है। आत्म विश्वास से मनुष्य उन्नत और महान् बन सकता है। संसार में कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। अभी तक जितने भी अलौकिक, अद्भुत और महान् कार्य हुए हैं। वे उन्हीं महान् आत्माओं द्वारा हुए हैं, जो पूर्ण आत्म विश्वासी थे। जिनकी आत्माओं में अदम्य उत्साह तथा अटूट आत्म-विश्वास था। अतः हे प्रिय बन्धुओ! तुम अपने अन्दर अदम्य आत्म विश्वास को धारण करो। अपने को दीन, मलीन, तुच्छ तथा हीन मत समझो। अपने अन्दर वेद की इस भावना को भरो :-

"शुक्रोसि, भ्राजोसि, स्वरसि, ज्योतिरसि"

"हे मनुष्य तू महा बलवान् और शक्तिमान् है। तू शुद्ध पवित्र और निर्मल है, तू तेजस्वी और वर्चस्वी है, तू सुख और शान्ति का भण्डार है, तू सकल ज्योतियों की भी परमज्योति है।"

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज आगरा